विवेक-ज्योति
वार्षिक रु. ५० मूल्य रु. ८.००
वर्ष ४५ अंक ९ सितम्बर २००७
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)
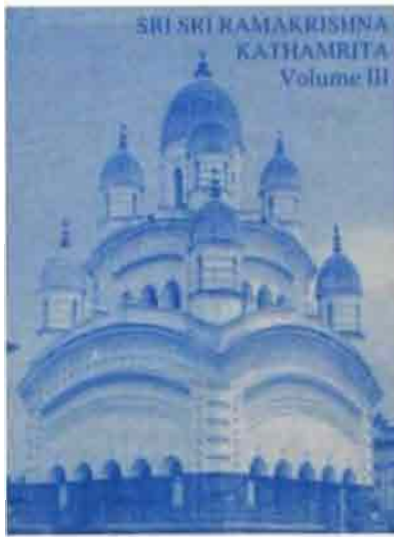
JUST RELEASED

VOLUME III
of
Sri Sri Ramakrishna Kathamrita

in English

A verbatim translation of the third volume of original Bengali edition. Available as hardbound copy at *Rs. 150.00 each* (plus postage Rs. 30.00). Available online at: *www.kathamrita.org*

HINDI SECTION

- **Sri Sri Ramakrishna Kathamrita** Vol. I to V Rs. 300 per set (plus postage Rs. 50)

  M. (Mahendra Nath Gupta), a son of the Lord and disciple, elaborated his diaries in five parts of 'Sri Sri Ramakrishna Kathamrita' in Bengali that were first published by Kathamrita Bhawan, Calcutta in the years 1902, 1905, 1908, 1910 and 1932 respectively. This series is a verbatim translation in Hindi of the same.

- **Sri Ma Darshan** Vol. I to XVI Rs. 825 per set (plus postage Rs. 115)

  In this series of sixteen volumes Swami Nityatmananda brings the reader in close touch with the life and teachings of the Ramakrishna family: Thakur, the Holy Mother, Swami Vivekananda, M., Swami Shivananda, Swami Abhedananda and others. The series brings forth elucidation of the Upanishads, the Gita, the Bible, the Holy Quran and other scriptures, by M., in accordance with Sri Ramakrishna's line of thought. **This work is a commentary on the Gospel of Sri Ramakrishna by Gospel's author himself.**

ENGLISH SECTION

Title	Volumes	Price
Sri Sri Ramakrishna Kathamrita	Vol. I to III	Rs. 450.00 for all three volumes (plus postage Rs. 60)
M., the Apostle & the Evangelist (English version of Sri Ma Darshan)	Vol. I to X	Rs. 900.00 per set (plus postage Rs. 100)
Sri Sri RK Kathamrita Centenary Memorial		Rs. 100.00 (plus postage Rs. 35)
Life of M. and Sri Sri Ramakrishna Kathamrita		Rs. 150.00 (plus postage Rs. 35)
A Short Life of M.		Rs. 50.00 (plus postage Rs. 20)

BENGALI SECTION

- **Sri Ma Darshan** Vol. I to XVI Rs. 650 per set (plus postage Rs. 115)

All enquiries and payments should be made to:

SRI MA TRUST
579, Sector 18-B, Chandigarh – 160 018 India
Phone: 91-172-272 44 60
email: SriMaTrust@yahoo.com

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

सितम्बर २००७

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४५
अंक ९

वार्षिक ५०/- एक प्रति ८/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

संस्थाओं के लिये वार्षिक ७५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,२००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४५ सितम्बर २००७ अंक ९

वैराग्य-शतकम्

कदा वाराणस्याममरतटिनीरोधसि वस-
न्वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम् ।
अये गौरीनाथ त्रिपुरहर शम्भो त्रिनयन
प्रसीदेति क्रोशन्निमिषमिव नेष्यामि दिवसान् ।।८७।।

अन्वय – कदा वाराणस्याम् अमर-तटिनी-रोधसि वसन् कौपीनं वसानः शिरसि अञ्जलिपुटम् निदधानः अये गौरीनाथ त्रिपुरहर शम्भो त्रि-नयन प्रसीद इति क्रोशन् दिवसान् निमिषम् इव नेष्यामि ।

अर्थ – अहा ! कब हम, पुण्यक्षेत्र वाराणसी में दिव्य गंगाजी के तट पर निवास करते हुए, कौपीन मात्र से शरीर को आच्छादित करके, अपने दोनों हाथों को जोड़कर सिर से लगाकर – "हे गौरीनाथ, हे त्रिपुरान्तक, हे शम्भो, हे त्रिनेत्र ! आप प्रसन्न होइये" – ऐसा उच्च स्वर में कहते हुए अपने दिनों को एक क्षण के समान बिता देंगे ।

स्नात्वा गाङ्गैः पयोभिः शुचिकुसुमफलैरर्चयित्वा विभो त्वां
ध्येये ध्यानं निवेश्य क्षितिधरकुहरग्रावपर्यङ्कमूले ।
आत्मारामः फलाशी गुरुवचनरतस्त्वत्प्रसादात्स्मरारे
दुःखं मोक्ष्ये कदाहं समकरचरणे पुंसि सेवासमुत्थम् ।।८८।।

अन्वय – विभो स्मरारे गाङ्गैः पयोभिः स्नात्वा शुचि कुसुम-फलैः त्वां अर्चयित्वा क्षिति-धर-कुहर-ग्राव-पर्यङ्क-मूले ध्येये ध्यानं निवेश्य आत्मारामः फल-आशीः गुरु-वचन-रत अहं कदा त्वत् प्रसादात् स-मकर-चरणे पुंसि सेवा-समुत्थम् दुःखं मोक्ष्ये ?

अर्थ – हे शिव, ऐसे दिन कब आयेंगे, जब मैं तुम्हारी कृपा से गंगाजी में स्नान करके, पवित्र पुष्पों तथा फलों के द्वारा तुम्हारी अर्चना करके, पर्वत की गुफा में स्थित पत्थर की शय्या पर बैठकर, एकमात्र ध्येय अपनी आत्मा में मनोनिवेश करके, केवल फलाहार करते हुए, गुरु के उपदेशों में तत्पर होकर, चरणों में मगर के चिह्नवाले धनिकों की परिचर्या से उत्पन्न दुःखों से मुक्त हो जाऊँगा?

– भर्तृहरि

स्वामीजी का आह्वान

(केदार–कहरवा)

जागो जागो मेरे देश,
उपनिषदों का सारे जग को,
देना है अनुपम सन्देश ।।

पराधीनता की बेड़ी में,
पड़े रहे शत शत वर्षों से,
भूल गए पुरखों की थाती,
रहे अपरिचित उत्कर्षों से ।
सहने पड़े सतत तुमको नित,
पीड़ा दुख-अपमान अशेष ।। जागो.।।

हुआ प्रबल जड़वाद जगत् में,
हिंसा और स्वार्थ का जोर,
पर अब होगी धर्म-प्रतिष्ठा,
शान्ति सुखद होगी सब ओर ।
नारायण आए हैं जग में,
लेकर रामकृष्ण का वेश ।। जागो.।।

दीर्घ निशा दुर्दिन की बीती,
प्राची में रवि उदयमान है,
ऋषियों की मधुमय वाणी में,
जग का अनुपम श्रेष्ठ ज्ञान है ।
पहचानो अपनी थाती को,
रह न जाय तन्द्रा का लेश ।। जागो.।।

जाति-देश-मत-सम्प्रदाय के,
भेदभाव है मिथ्या सारे,
पूरी वसुधा ही कुटुम्ब है,
मानव-मात्र ईश के प्यारे ।
भ्रातृभाव फैलाओ जग में,
मिट जाएँ 'विदेह' भय-द्वेष ।। जागो.।।

— *विदेह*

जाति-व्यवस्था और प्रजातंत्र

स्वामी विवेकानन्द

अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित State Society and Socialism नामक संकलन में प्रश्नोत्तर के रूप में स्वामीजी के विचारों का संयोजन किया गया है। प्रस्तुत है उसी पुस्तक के महत्वपूर्ण अंशों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

प्रश्न – जातिवाद के बारे में आपका क्या कहना है?

उत्तर – पाश्चात्य लोग हमारी जाति-व्यवस्था की चाहे जितनी भी निन्दा क्यों न करें, पर उनमें भी एक ऐसा जाति-भेद है, जो हमारे यहाँ से भी बुरा है – वह है, धन-आधारित जाति-भेद। अमेरिकावासी कहते हैं कि सर्व-शक्तिमान डालर उनके यहाँ सब कुछ कर सकता है।[१२३]

संसार में प्राय: सर्वत्र ही मैंने जाति-पाँति का भेद-भाव देखा है, पर उद्देश्य हमारे जैसा महान् नहीं है। अत: जब जातिभेद का होना अनिवार्य है, तब उसे धन के आधार पर खड़ा करने की अपेक्षा पवित्रता और आत्मत्याग के ऊपर खड़ा करना कहीं अधिक अच्छा है।[१२४]

प्रश्न – वेदान्त क्या जातिवाद को मान्य करता है?

उत्तर – जाति-व्यवस्था वेदान्त-धर्म का विरोधी है। जाति एक सामाजिक प्रथा मात्र है और हमारे बड़े-बड़े आचार्यों ने उसे तोड़ने के प्रयत्न किये हैं। बौद्ध धर्म से लेकर सभी सम्प्रदायों ने जाति-भेद के विरुद्ध प्रचार किया है, मगर ऐसा प्रचार जितना ही बढ़ा, जाति-भेद की शृंखला भी उतनी ही दृढ़ होती गयी। जाति-भेद की उत्पत्ति भारत की राजनीतिक संस्थाओं से हुई है। वह तो वंश परम्परा से चले आये व्यवसायों का संघ मात्र है। किसी प्रकार के उपदेश की अपेक्षा यूरोप के साथ व्यापार-वाणिज्य की प्रतियोगिता ने जाति-व्यवस्था को अधिक मात्रा में तोड़ा है।[१२५]

प्रश्न – क्या जाति-व्यवस्था ने हमारी सहायता की है? क्या यह अब भी उपयोगी है?

उत्तर – जाति वस्तुत: क्या है, यह लाखों में कोई एक भी नहीं समझता। संसार में एक भी देश ऐसा नहीं है, जहाँ जाति-भेद न हो। भारत में हम जाति के द्वारा ऐसी स्थिति में पहुँचते हैं, जहाँ जाति नहीं रह जाती। जाति-प्रथा सदा इसी सिद्धान्त पर आधारित है। भारत में योजना यह है कि **हर व्यक्ति को ब्राह्मण बनाया जाय; ब्राह्मण मानवता का आदर्श है।** यदि आप भारत का इतिहास पढ़ेंगे, तो पायेंगे कि सदा नीचे वर्गों को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया गया है। बहुत-से वर्ग उठाये गये हैं, और भी अधिक उठाये जायेंगे, तब तक – जब तक कि सब ब्राह्मण नहीं हो जाते। यही योजना है। हमें उन्हें ऊपर ही उठना है, किसी को नीचे नहीं गिराना है। और यह काम स्वयं ब्राह्मणों को करना है, क्योंकि हर अभिजात वर्ग का कर्तव्य है कि अपनी कब्र वह स्वयं ही खोदे, और वह जितनी जल्दी खोदता है, उतना ही सबके लिये अच्छा होता है। इसमें बिल्कुल देर नहीं लगानी चाहिये। यूरोप और अमेरिका में जैसा जाति-भेद है, भारतीय जाति-भेद उससे अच्छा है। मैं यह नहीं कहता कि वह पूर्णत: अच्छा है। यदि जाति न होती, तो आज आप कहाँ होते? यदि जाति न होती, तो आपका ज्ञान-भण्डार और दूसरी वस्तुयें कहाँ होती? यदि जाति न होती, तो आज यूरोपवालों के अध्ययन करने के लिये कुछ भी न बचा होता। मुसलमानों ने सब कुछ नष्ट कर दिया होता। वह कौन-सा स्थल है, जहाँ हम भारतीय समाज को स्थिर पाते हैं? यह सदा गतिमान रहा है। कभी-कभी, जैसे कि विदेशी आक्रमणों के समय में, यह गति मन्द रही है, पर दूसरे अवसरों पर अधिक तेज रही है। मैं अपने देशवासियों से यही कहता हूँ। मैं उन्हें दोष नहीं देता। मैं उनके अतीत में देखता हूँ। मैं देखता हूँ कि ऐसी परिस्थितियों में कोई भी देश इससे अधिक शानदार काम नहीं कर सकता था। मैं उन्हें बताता हूँ कि आपने बहुत अच्छा काम किया है। और उनसे केवल और अच्छा करने के लिये कहता हूँ।[१२६]
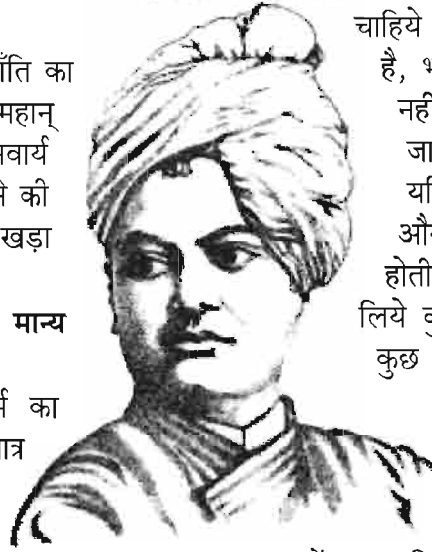
विविध जातियों के होते हुए भी, और विवाह-सम्बन्ध के एक ही जाति की उपजातियों में सीमित रखने की आधुनिक प्रथा के होते हुए भी (यद्यपि यह प्रथा सार्वभौम नहीं है), हम हिन्दू लोग सभी सम्भव अर्थों में एक संकर जाति हैं।

भारत में, किसी भी जाति की बलात् अधिकृत जन्मजात श्रेष्ठता कपोल कथा मात्र है; और हमें दु:ख के साथ कहना पड़ता है कि भारत के अन्य किसी भाग में इस झूठी कल्पना को प्रसार के लिये उतनी उर्वर भूमि नहीं मिली, जितनी भाषामूलक विभेदों के कारण उसे दक्षिण भारत में मिली।[१२७]

बुद्धदेव से लेकर राममोहन राय तक सबने जाति-भेद को धर्म का एक अंग मानने की भूल की और जाति-भेद के साथ ही धर्म पर भी पूरा आघात किया और विफल रहे। पुरोहितगण चाहे जो भी बकें, जाति-व्यवस्था मात्र एक सामाजिक विधान

ही है, जिसका काम हो चुका, अब तो वह भारतीय वायु-मण्डल में दुर्गन्ध फैलाने के सिवा अन्य कुछ नहीं करती। यह तभी हटेगी, जब लोगों को उनका खोया हुआ सामाजिक व्यक्तित्व पुन: प्राप्त हो जायेगा। इस देश में जन्म लेनेवाला प्रत्येक व्यक्ति अपने को एक 'मनुष्य' समझता है। भारत में जन्म लेनेवाला हर व्यक्ति समझता है कि वह समाज का एक दास है। **उन्नति का एकमात्र सहायक स्वाधीनता है।** उसके अभाव में अवनति अवश्यम्भावी है। देखो, आधुनिक प्रतिस्पर्धा के युग में जाति-भेद अपने आप कैसे नष्ट होता जा रहा है। उसका नाश करने के लिये किसी धर्म की आवश्यकता नहीं। उत्तर भारत में दुकानदारी, जूतों का धन्धा और शराब बनाने का काम करनेवाले ब्राह्मण दीख पड़ते हैं। इसका कारण? प्रतिस्पर्धा। वर्तमान शासन में किसी भी मनुष्य पर यथेच्छा कोई भी व्यवसाय करने की रोक-टोक नहीं। फलत: जबरदस्त प्रतियोगिता उत्पन्न हो गयी है। इस प्रकार हजारों लोग नीचे पड़े जड़ता प्राप्त होने की जगह उन ऊँचे-से-ऊँचे पदों को प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील हैं, और प्राप्त भी कर रहे हैं, जिनके लिये उन्होंने जन्म ग्रहण किया है।[१२८]

प्रश्न – क्या सबको समान अवसर मिलने चाहिये?

उत्तर – यदि स्वभाव में समता न भी हो, तो भी सबको समान सुविधा मिलनी चाहिये। फिर भी यदि किसी को अधिक तथा किसी को कम सुविधा देनी हो, तो बलवान की अपेक्षा दुर्बल को अधिक सुविधा प्रदान करनी आवश्यक है।

दूसरे शब्दों में, शूद्र को शिक्षा की जितनी जरूरत है, उतनी ब्राह्मण के लिये नहीं। यदि ब्राह्मण के पुत्र के लिये एक शिक्षक आवश्यकता हो, तो शूद्र के बच्चे के लिये दस शिक्षक चाहिये। कारण यह है कि प्रकृति द्वारा जिसे बुद्धि की स्वाभाविक प्रखरता नहीं मिली है, उसे अधिक सहायता देनी होगी। चिकने-चुपड़े पर तेल लगाना तो पागलों का काम है। निर्धन, पिछड़े तथा अज्ञानी लोग तुम्हारे ईश्वर बनें।[१२९]

प्रश्न – तथाकथित प्रजातंत्र और तथाकथित समाजवाद के बीच मूलभूत अन्तर क्या है?

उत्तर – बहुत-से व्यक्तियों के समूह को समष्टि कहते हैं और प्रत्येक व्यक्ति व्यष्टि कहलाता है। तुम और मैं – दोनों व्यष्टि हैं, समाज समष्टि है। ... व्यष्टि को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता होती है या नहीं, और यदि होती है तो उसका नाम क्या होना चाहिये, व्यष्टि को समष्टि के लिये अपनी इच्छा और सुख का पूर्ण त्याग करना चाहिये या नहीं – यह प्रत्येक समाज की चिरन्तन समस्या है। सब स्थानों में समाज इन समस्याओं के समाधान में लगा रहता है। ये बड़ी-बड़ी तरंगों के समान आधुनिक पश्चिमी समाज में हलचल मचा रही हैं। जो समाज के आधिपत्य के लिये व्यक्तिगत स्वतंत्रता का त्याग चाहता है, वह सिद्धान्त समाजवाद कहलाता है और जो व्यक्ति के पक्ष का समर्थन करता है, वह व्यक्तिवाद कहलाता है।[१३०]

प्रश्न – प्रजातंत्र का सकारात्मक पक्ष क्या है?

उत्तर – पाश्चात्य देशों में समाज को सदैव स्वाधीनता मिलती रही, इसीलिये उनके समाज को देखो। ... स्वाधीनता ही उन्नति की पहली शर्त है।[१३१]

हम वही उद्यम, स्वाधीनता के प्रति वही प्रेम, वही आत्म-निर्भरता, वही अटल धैर्य, वही कार्यदक्षता, वही एकता, और उन्नति के लिये वही पिपासा चाहते हैं।[१३२]

प्रश्न – प्रजातंत्र के दोष क्या हैं?

उत्तर – यूरोप में सर्वत्र बलवानों की विजय और निर्बलों की मृत्यु होती है।[१३३]

एक ओर तो, विदेशी साहित्य के द्वारा, चरम भौतिकता, प्रचुर धन-वैभव, प्रभूत बल-संचय और उत्कट इन्द्रिय-सुख तीव्र हलचल मचा रहे हैं; ... सुन्दर बढ़िया तथा ठीक ढंग से सजाया हुआ भोजन, उम्दा पेय, बहुमूल्य पोशाक, ऊँचे-ऊँचे, बड़े-बड़े महल तथा नये-नये ढंग की गाड़ियाँ-सवारियाँ आदि, नये-नये अदब-कायदे तथा नये-नये फैशन, जिनके अनुसार सज-धजकर हमारे सामने आजकल की शिक्षित नारी काफी निर्लज्जता पूर्ण स्वतंत्रता से घूमती-फिरती है। ये सब सामग्रियाँ न जाने कितनी नयी-नयी इच्छाएँ तथा कामनाएँ उत्पन्न करती हैं। ... पाश्चात्य जगत् का उद्देश्य है व्यक्तिगत स्वाधीनता, भाषा है अर्थकरी विद्या और उपाय है राजनीति।[१३४]

राजनीति के नाम पर चोरों का जो दल देशवासियों का रक्त चूसकर सारे यूरोपीय देशों का नाश करता है और स्वयं को मोटा-ताजा बनाता है, वह दल भी हमारे देश में नहीं है। घूस की वह धूम, वह दिन-दहाड़े लूट, जो पाश्चात्य देशों में होती है, यदि भारत में दिखायी पड़े, तो हताश होना पड़ेगा। ... जिनके हाथ में रुपये हैं, वे राज्य-शासन को अपनी मुट्ठी में रखते हैं, प्रजा को लूटते और चूसते हैं, उसके बाद उन्हें सिपाही बनाकर देश-देशान्तरों में मरने के लिये भेज देते हैं, जीत होने पर उन्हीं का घर धन-धान्य से भरा जायेगा, किन्तु प्रजा तो उसी जगह मार डाली गयी! मेरे मित्रो! तुम घबराओ मत, आश्चर्य भी मत प्रकट करो![१३५]

पाश्चात्य देश ऐसे ही मुट्ठी भर शायलाकों द्वारा शासित हैं और वहाँ की वैधानिक सरकार, स्वतंत्रता, आजादी, संसद आदि के बारे में तुम जो सुनते हो, वह सब मजाक है।[१३६]

सन्दर्भ-सूची – **१२३**. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ. २९८; **१२४**. वही, खण्ड ५, पृ. ९५; **१२५**. खण्ड १०, पृ. ३७७; **१२६**. खण्ड ४, पृ. २५३-५४; **१२७**. खण्ड ९, पृ. २८३-४; **१२८**. खण्ड २, पृ. ३११-१२; **१२९**. खण्ड ४, पृ. ३०९-१०; **१३०**. खण्ड ७, पृ. ३५७; **१३१**. खण्ड ३, पृ. ३३३; **१३२**. खण्ड १०, पृ. १३५; **१३३**. खण्ड १०, पृ. ११२; **१३४**. खण्ड ९, पृ. २२५; **१३५**. खण्ड १०, पृ. ६१; **१३६**. खण्ड ५, पृ. ५५;

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (१६/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

जसु तुम्हार मानस बिमल
हंसिनि जीहा जासु ।
मुकताहल गुन गन चुनइ
राम बसहु हियँ तासु ।। २/१२८

– "हे राम, आपके यश-रूपी निर्मल मानसरोवर में, जिनकी जिह्वा-रूपी हंसिनी आपके गुणों-रूपी मोतियों को चुनती रहती है, आप उसके हृदय में निवास कीजिये।"

प्रभु श्रीरामभद्र की महती अनुकम्पा से इस पावन आश्रम में भगवान श्रीरामकृष्ण देव, स्वामी विवेकानन्दजी के जयन्ती के महोत्सव में अनेक वर्षों से आने और वाणी के माध्यम से सेवा करने का मुझे जो सुअवसर प्राप्त होता रहा है, इसके लिए मैं स्वयं को भाग्यशाली मानता हूँ।

गोस्वामीजी ने एक सूत्र दिया कि समाज में लोकप्रियता ही व्यक्ति के सौभाग्य की एकमात्र कसौटी नहीं है। उन्होंने कहा – जनता का स्वभाव तो भेड़िया-धसान के समान है –

तुलसी भेड़ी की धसनि जड़ जनता सनमान ।

उन्होंने व्यक्ति के सौभाग्य की कसौटी बतायी – जिसे साधु-समाज में स्थान नहीं मिला, जिसे सन्तों का स्नेह नहीं मिला, जिसके हृदय में भगवान की भक्ति की रेखा अंकित नहीं हुई, उस व्यक्ति के जीवन की कोई सार्थकता नहीं है –

साधु समाज न जाकर लेखा ।
रामभगति महुँ जासु न रेखा ।।
जायँ जिअत जग सो महि भारू ।
जननी जौवन बिटप कुठारू ।। २/१९०/८

इस दृष्टि से मैं बाल्यावस्था से ही बड़ा सौभाग्यशाली रहा हूँ कि मुझमें कोई विशिष्टता या योग्यता न होते हुए भी मुझे निरन्तर सन्तों की कृपा प्राप्त होती रही है; उनका स्नेह, सान्निध्य, आशीर्वाद – सब कुछ मिलता रहा। अत: चाहे जितनी भी व्यस्तता हो, पर जब मैं इस आश्रम के कार्यक्रम में आता हूँ, तो लगता है कि जहाँ ऐसे सन्त विराजमान हैं, जिनकी आज्ञा का पालन करना, भगवान श्रीरामकृष्ण और विवेकानन्दजी के जयन्ती में सम्मिलित होना – एक ऐसा सौभाग्य है, जिससे वंचित होना दुर्भाग्य की ही स्वीकृति है।

आपके समक्ष जो प्रसंग चल रहा है, वह बड़े महत्त्व का और बड़ा सांकेतिक है। इस पर संक्षेप में प्रकाश डालने की चेष्टा की गई। महर्षि वाल्मीकि से प्रभु ने प्रश्न किया – मेरे निवास के लिए आप किसी ऐसी भूमि की ओर इंगित करें, जहाँ कुटिया बनाकर मैं जनकनन्दिनी सीता और लक्ष्मण के साथ निवास करूँ। महर्षि ने तात्त्विक उत्तर देने के बाद कहा "वैसे तो आप सर्वत्र निवास करते हैं, पर प्रत्येक व्यक्ति को आपकी व्याप्ति का अनुभव नहीं हो रहा है।" अत: महर्षि ने चौदह प्रकार के भक्तों के हृदय का वर्णन किया और प्रभु से कहा कि आप ऐसे हृदयवाले भक्तों के हृदय में निवास करें।

तृतीय स्थान की चर्चा चल रही है, जिसमें महर्षि कहते हैं जिनकी जिह्वा हंसिनी की तरह होकर निरन्तर आपके यश रूपी मानसरोवर के निश्छिद्र अमूल्य मोतियों को चुनती रहती है, ग्रहण करती है, आप उनके हृदय में निवास करें।

'मानस' में यदि हम खोज करें, तो हमें कई हंस मिलते हैं, पर उन हंसों में भी जिसे प्रभु ने सर्वश्रेष्ठ हंस के रूप में स्वीकार किया है, वे हैं भरतजी। उपरोक्त पंक्तियाँ उन पर पूरी तौर से सार्थक सिद्ध होती हैं। श्रीभरत ससैन्य चित्रकूट की यात्रा करते हैं। उनकी सेना को देखकर पशु-पक्षी भयभीत होकर प्रभु के आश्रम में चले जाते हैं। हिरण भी जब प्रभु के आश्रम में गये, तो सबको आश्चर्य हुआ कि ये पशु-पक्षी किससे भयभीत हुए चले आ रहे हैं? फिर एक किरात ने आकर सूचना दी कि श्रीभरत सेना लेकर आ रहे हैं।

समाचार सुनते ही प्रभु चिन्तित हो गये। उस चिन्ता का मूल कारण यह था कि उन्हें ऐसा लगा – आज तक मैंने जो चाहा, जो सोचा, जो कहा, वही भरत ने किया। परन्तु भरत ने कभी भी मुझसे कुछ करने के लिए नहीं कहा। अब आज यदि भरत मुझे लौटाने आ रहा है, तो क्या मुझमें यह साहस है कि उसकी प्रार्थना को नकार दूँ, अस्वीकार कर दूँ? क्या मैं उसके कहने पर लौटने से मना कर सकूँगा?

गोस्वामीजी कहते हैं कि मान लीजिये नदी में तैरने का अभ्यास करनेवाले किसी बड़े कुशल तैराक को सहसा समुद्र में तैरना पड़ जाय, तो उसके लिए यह बड़ा कठिन होगा। नदी की सीमाएँ हैं, उसमें तैरना सरल है, पर समुद्र तो असीम है। उसमें अगाध जल है। प्रभु कहते हैं कि मैं भले ही नदी-तुल्य श्रेष्ठ चरित्रों के रहस्य को समझकर समाधान ढूँढ़ लूँगा, पर भरत तो समुद्र है। क्या भरत के स्नेह-समुद्र

को पार कर पाना मेरे लिए सम्भव हो सकेगा? मैं तो उसमें डूब ही जाऊँगा। भरत का जो प्रेम-समुद्र है, स्नेह-समुद्र है, उसे पार करना मेरे लिए सम्भव नहीं होगा।

जब भगवान राम के मन में ऐसा चिन्तन चल रहा था, तो लक्ष्मणजी प्रतिक्षण उन्हीं की ओर देख रहे थे। सेना आने का समाचार उन्हें मिल चुका है। प्रभु के मुख पर चिन्ता के भाव परिलक्षित हो रहे हैं। लक्ष्मणजी को लगा कि प्रभु यह सोचकर चिन्तित हो रहे हैं कि सेना लेकर भरत के आने का तात्पर्य ही यही है कि वे युद्ध करने आ रहे हैं। प्रभु का भरत के प्रति बड़ा अगाध स्नेह है, अत: प्रभु को ऐसा लग रहा होगा कि क्या ऐसे भाई के प्रति, जिसके लिए मेरे मन में इतना स्नेह है, यदि वह युद्ध में चुनौती दे, आक्रमण करे, तो क्या मुझे शस्त्र उठाना होगा? लक्ष्मणजी ने जो अर्थ लिया, वह स्वाभाविक था, पर वास्तविक नहीं था।

बुद्धिमान व्यक्ति हर वस्तु को बुद्धि की कसौटी पर कसता है, परन्तु प्रेमी का हृदय गणित से सन्तुष्ट नहीं होता। संस्कृत साहित्य में एक बड़ी मनोवैज्ञानिक बात आती है। इसके लिए एक शब्द आता है – 'प्रेमाविष्ट-शंकी'। जब आप किसी से प्रेम करते हैं और आपको उसके बारे में कोई समाचार न मिले, या आपके मन में कोई ऐसी आशंका आये, तो आप बुद्धि का प्रयोग नहीं कर सकेंगे। आपके मन में स्वाभाविक रूप से यह बात आयेगी कि कहीं कोई दुर्घटना तो नहीं हो गई? दुर्घटना के समाचार आते रहते हैं। तो प्रेमी के हृदय की बड़ी विचित्र दशा है – जो नहीं चाहता है, वही आशंका बार-बार उसके मन में आती है।

अब लक्ष्मणजी अपने वीर-रस में स्थित हो जाते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं – इतने दिनों तक तो लक्ष्मणजी शान्त भाव से प्रभु की सेवा कर रहे थे, पर सेना के आने का समाचार सुनते ही उनका वीर-रस जाग उठा। जैसे कोई व्यक्ति सो रहा हो और सहसा उसे जगा दिया जाय, वैसे ही लक्ष्मण के हृदय में शान्त-भाव चैतन्य था और वीर-रस सोया हुआ था, पर सेना के आने की बात सुनकर आक्रमण की आशंका से उनका वह वीर-रस जाग उठता है।

मनहुँ बीर रस सोवत जागा ।। २/२२९/१

इसके बाद उन्होंने जो भाषण दिया, उसमें श्रीभरत के लिए बड़े ही ओजस्वी, तेजस्वी और कठोर-से-कठोर शब्दों का प्रयोग किया। फिर वे शब्द बड़े मार्मिक भी थे। लक्ष्मणजी बोले – "यह समाचार सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ है और नहीं भी हुआ है। आश्चर्य इसलिए नहीं हुआ कि इतिहास बताता है कि अच्छे-से-अच्छे व्यक्ति भी जब सत्ता और राज्य पा लेते हैं, तो उन्हें भी पद तथा सत्ता का मद हो जाता है। भरत में भी यदि राजमद आ गया है, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात ! दूसरी ओर मुझे आश्चर्य भी है, क्योंकि भरत की तुलना उन अन्य राजाओं से नहीं की जा सकती। आज तक मैं यही मानता रहा कि भरतजी साधु पुरुष हैं, बड़े सुजान है और उनके जीवन में नीति के उच्चतम निदर्शन हैं, तो ऐसी स्थिति में कैसे मैं सोच पाता कि वे भी आज आपका सिंहासन पाकर धर्म की मर्यादा को मिटाते हुए चले आ रहे हैं –

भरतु नीति रत साधु सुजाना ।
प्रभु पद प्रेमु सकल जगु जाना ।।
तेऊ आजु राम पदु पाई ।
चले धरम मरजाद मेटाई ।। २/२२८/२-३

हमारे देश में राम-चरित-मानस की सबसे पुरानी प्रतियाँ व्यंकटेश्वर प्रेस में छपीं। प्रेस के मालिकों ने उसके सम्पादन का भार पं. ज्वालाप्रसादजी को दिया था। वे बड़े विद्वान् और संस्कृत के पण्डित थे। उनके सम्पादन में ही सबसे पुरानी प्रति प्रकाशित हुई। उस प्रति के साथ एक बड़ी समस्या थी। पण्डितजी व्याकरण और शास्त्र के विद्वान् थे। कई प्रसंगों में उनको लगा था कि व्याकरण की दृष्टि से या भाव की दृष्टि से गोस्वामीजी ने भूलें कर दी हैं। तो उन्होंने काफी मात्रा में शब्दों को बदल दिया। उसके पीछे उनका कोई दुर्भाव नहीं था। उन्होंने सोचा कि लोग गोस्वामीजी को इतना सम्मान देते हैं, तो इन शब्दों से वे यह न समझें कि उन्हें व्याकरण का ज्ञान नहीं था, या उन्होंने सही स्थान पर सही शब्दों का प्रयोग नहीं किया। उस टीका से पढ़े हुए कुछ पुराने लोग आज भी हठ करते हैं कि पुरानी रामायण में तो ऐसा लिखा है। पण्डितजी ने इस चौपाई में भी संशोधन कर दिया है। उन्हें लगा कि चर्चा तो राज्यपद की है और यहाँ 'रामपदु' शब्द उचित नहीं है। उन्होंने 'रामपदु' के स्थान पर 'राजपदु' कर दिया। तो पण्डितजी की उस पुरानी प्रति में है –

तेऊ आज राज पद पाई ।
चले धरम मरजाद मिटाई ।। २/२२८/३

पण्डितजी योग्य हो सकते थे, पर गोस्वामीजी के अन्तर्हृदय की गहराई को नहीं समझे। उनका यह ग्रन्थ तो साक्षात् मंत्र है। कभी-कभी मंत्रों को देखकर हमें ऐसा लगता है कि इसमें व्याकरण की यह अशुद्धि है, या लगता है कि यह अर्थ असंगत है, पर उस मंत्र में कभी किसी अक्षर को परिवर्तित नहीं करते। श्लोकों में भी ऐसा होता है। भगवान वेदव्यास के ग्रन्थों में कहीं व्याकरण की अशुद्धि दिखती है, तो उसे 'आर्ष-प्रयोग' का नाम दिया जाता है। कहा जाता है कि यह ऋषियों का प्रयोग है, अत: मान्य है, वन्दनीय है। पर यहाँ पर लक्ष्मणजी ने बड़ी ऊँची बात कही थी और वही उनकी श्रीभरत विषयक धारणा का परिचायक है। तो यहाँ राजपद होगा, या रामपद? लगता तो यही है कि भरत राजपद पाकर उन्मत्त हो गये हैं। पर लक्ष्मणजी का तात्पर्य यह था कि संसार के व्यक्तियों के लिए पद भले ही राजपद हो, पर

भगवान के भक्त के लिए तो वह राजपद ही नहीं है। वस्तुत: श्रीभरत भी वही मानते हैं, जो लक्ष्मणजी मानते हैं। राजपद का प्रयोग प्रत्येक सत्ताधारी व्यक्ति के लिए किया जा सकता है, परन्तु संसार की सत्ता का, समृद्धि का, पद का वास्तविक स्वामी कौन है? गुरु वशिष्ठ ने जब भरतजी से कहा – "भरत, यह एक परम्परा है, और शास्त्र के अनुकूल है कि पिता जिसको राज्य देते हैं, वही राज्य का उत्तराधिकारी है। श्रीराम भले ही बड़े हों, लेकिन तुम्हारे पिता यदि तुम्हें राज्य देना चाहते हैं, तो तुम्हें स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए, तुम्हें पिता के अधिकार को स्वीकृति देना चाहिए –

जेहि पितु देई सो पावई टीका ।। २/१७४/३

भरतजी ने इसे स्वीकार नहीं किया। क्यों नहीं किया? भीष्म पितामह एक महान् वन्दनीय महापुरुष थे और कहा जा सकता है कि महाभारत काल में उनसे बढ़कर महान् व्यक्तित्व का धनी कोई अन्य पात्र दिखाई नहीं देता। वे इतने अद्भुत और विलक्षण हैं कि आज भी संध्या करते समय लोग उनके लिए तर्पण करते हैं। वे बाल ब्रह्मचारी हैं, अपने पिता महाराज शान्तनु की आज्ञा का पालन करने के लिए उन्होंने ब्रह्मचर्य धारण किया। उनके पिता के मन में सत्यवती का सौन्दर्य देखकर एक कामना जाग्रत हुई। परन्तु सत्यवती के पिता का कहना था कि अपनी बेटी मैं आपको कैसे अर्पित करूँ? वह तो महल में एक दासी के रूप में रहेगी। मेरी पुत्री इतनी सुन्दरी है और मैं यह चाहता हूँ कि राज्य उसी के पुत्र को मिले। परन्तु राज्य तो आपके ज्येष्ठ पुत्र भीष्म और उनके वंशजों को ही मिलेगा। शान्तनु चुप हो गये, क्योंकि वे भीष्म से बड़ा स्नेह करते थे। परन्तु भीष्म को जब यह समाचार मिला, तो बोले – आप विवाह करें, मैं वचन देता हूँ कि मैं विवाह नहीं करूँगा और उनको राज्य तथा उत्तराधिकार को लेकर समस्या नहीं होगी। कितना बड़ा त्याग था!

वे केवल अविवाहित ही नहीं रहे, अपितु स्वयं को राज्य के उत्तराधिकार से भी वंचित कर लिया। ऐसे भीष्म पितामह के इस महान् त्याग की जितनी भी प्रशंसा की जाय, वह कम है। परन्तु श्रीभरत और उनमें बड़ी भिन्नता है। द्वापर युग में भीष्म महान् हो सकते हैं, परन्तु श्रीभरत और उनकी धर्म विषयक धारणा बिलकुल भिन्न है। भीष्म पिता की आज्ञा का पालन तथा उनकी प्रसन्नता के लिए विवाह नहीं करते; दूसरी ओर भरतजी से जब कहा गया कि तुम्हारे पिताजी की यह आज्ञा है और शास्त्र कहता है कि जो व्यक्ति उचित-अनुचित का विचार किये बिना ही पिता की आज्ञा का पालन करता है, वह सुख तथा यश का अधिकारी होता है और चिर काल तक स्वर्ग में निवास करता है –

अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन ।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपुर ऐन।। २/१७४

भरतजी ने पिता की आज्ञा अस्वीकार कर दी। पिता की आज्ञा को स्वीकार करनेवाले भीष्म पितामह और पिता की आज्ञा को अस्वीकार करनेवाले भरतजी – दोनों धर्ममय होते हुए भी, दोनों के धर्म की व्याख्या भिन्न थी। भीष्म पितामह के जीवन में सत्त्वगुण की प्रधानता है। उनके चरित्र में बार-बार रजोगुण मिश्रित सत्वगुण परिलक्षित होता है, परन्तु भरतजी तो त्रिगुणातीत हैं। रज की तो बात ही क्या, सत्त्व भी उनके जीवन का केन्द्र-बिन्दु नहीं है। भीष्म पितामह वसु के अवतार हैं। उनका त्याग परमार्थ के लिये स्वार्थ का त्याग है, परन्तु भरतजी के लिए कहा गया कि वे तो स्वार्थ और परमार्थ से भी ऊपर उठे हुए हैं –

परमारथ स्वारथ सुख सारे ।
भरत न सपनेहु मनहु निहारे ।।

पिता की आज्ञा को स्वीकार न करने के पीछे भरतजी का दर्शन अत्यन्त उच्च कोटि का है। आप गहराई से विचार करके देखिए – भीष्म पितामह ने नि:सन्देह पिता के लिए इतना महान् त्याग किया, परन्तु आगे चलकर महाभारत का जो भीषण युद्ध और जनसंहार हुआ, उसमें उनकी प्रतिज्ञा ही एक कारण बनी। यदि उन्होंने विवाह कर लिया होता और उनसे सन्तति उत्पन्न होती, तो बाद में कुरु और पाण्डु के रूप में वंश को जो एक नई दिशा और नया रूप प्राप्त हुआ, वैसा नहीं हुआ होता। तब शायद कहा जाता कि वे इतने पितृभक्त नहीं थे, इतने त्यागी नहीं थे।

परन्तु भरतजी के सामने प्रश्न यह नहीं है कि लोग क्या कहेंगे, लोग क्या समझेंगे। ऐसी बात नहीं कि हमारी दृष्टि लोकपरक होनी ही नहीं चाहिए, किन्तु जब तक हमारी दृष्टि लोकपरक है, यदि हम लोकपरता को ही अपने जीवन का आधार बना लेंगे, तो हम अपने जीवन में किसी निष्ठा या किसी आदर्श का पालन नहीं कर सकते। भरतजी यह नहीं सोचते कि ऐसा करने पर लोग क्या कहेंगे। गुरु वशिष्ठ ने यही तो कहा कि जो पिता की बात मानता है, उसको यश मिलता है और मरने के बाद स्वर्ग मिलता है।

परन्तु भरतजी को जब मुक्ति ही नहीं चाहिए, तो स्वर्ग पाने का प्रश्न ही कहाँ उठता है? उनके जीवन में कीर्ति की भी कोई कामना नहीं है। पर उनका दर्शन क्या है? भीष्म का दर्शन प्रचलित धर्म का एक उत्कृष्ट रूप है और भरतजी का जीवन धर्म की एक नई व्याख्या है, एक नई दृष्टि है, एक नया दर्शन है। गुरु वशिष्ठ ने पहले जब श्रीराम से राज्य लेने के लिए कहा था, तब उनका तर्क था कि यह तो रघुवंश की, सूर्यवंश की परम्परा है कि बड़ा भाई स्वामी हो और छोटा भाई सेवक। परन्तु जब उन्होंने भरतजी से राज्य लेने कहा, तब तर्क बदल दिया। बोले – राज्य तुम्हारे पिता का है, पिता ने तुम्हें दिया और उन्हें देने का अधिकार है। यदि

उन्हें देने का अधिकार है, तो तुम्हें लेने में हिचकिचाहट क्यों होनी चाहिए? परन्तु भरतजी का तर्क बहुत गहरा था। उन्होंने कहा – ठीक है, यदि कोई व्यक्ति अपनी वस्तु देता है, तो सामनेवाला चाहे तो ले सकता है, लेकिन सजग व्यक्ति को यह तो अवश्य पता लगा लेना चाहिए कि ये अपनी वस्तु दे रहे हैं या किसी दूसरे की वस्तु? मानो रायपुर में जाते हुए आप साथ में हों और जो सबसे अच्छा भवन दिखाई दे, तो कोई आपसे कहे – यह मकान मैंने आपको दान किया। अगले दिन आप कब्जा लेने पहुँचे, तो लोगों ने बताया कि मकान का स्वामी तो कोई और है, किस पगले ने कह दिया की यह मेरा मकान है? भरतजी बोले – राज्य यदि पिताजी का होता, तो उनके कहने से मैं ले लेता, पर राज्य पिताजी का है ही नहीं। भरतजी का यह चिन्तन भक्तिपरक है, यह धर्म भक्ति से अभिन्न है।

उनका तात्पर्य यह है कि पिताजी का राज्य कैसे हुआ? उन्हें कहाँ से मिला? उत्तर मिलेगा – उनको अज ने दिया। अज को किससे मिला? – दिलीप ने दिया और इस तरह से एक द्वारा दूसरे को राज्य मिलता गया। तो भरतजी ने पूछा कि वस्तुत: इसका स्वामी कौन है? इससे उनका सूत्र स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुत: कोई भी व्यक्ति राज्य का स्वामी नहीं है। राज्य या सम्पत्ति किसी व्यक्ति की नहीं है।

सम्पति सब रघुपति कै आही।

सम्पदा और राज्य प्रभु का है। पिताजी ने तो बहुत बड़ा अनर्थ किया कि उन्होंने प्रभु की सम्पत्ति तथा राज्य को देने की बात कह दी। कैकेयीजी के सामने उन्होंने बड़ा कठोर शब्द कहा – हमारे पिता चाहे जितने भी बुद्धिमान रहे हों, पर मृत्यु के समय ब्रह्मा ने उनकी बुद्धि का हरण कर लिया था –

मरन काल बिधि मति हर लीन्हीं ।। २/१६१/३

इससे भरतजी का जीवन-दर्शन स्पष्ट हो जाता है। गुरु वशिष्ठ ने कहा – राज्य ले लो, तुम्हारे पिताजी ने तुम्हें दिया है, इसलिए ले लो। जब राज्य तुम्हारा हो जाय, तो तुम्हें अधिकार है कि तुम चाहे जिसे दे दो। तुम चौदह वर्ष तक राज्य चलाओ, बाद में श्रीराम आयें, तो उन्हें दे देना। पर भरतजी ने स्वीकार नहीं किया। कई लोगों को लगता है कि अन्त में श्रीभरत ने वही तो किया, जो वशिष्ठजी कह रहे थे – चौदह वर्ष राज्य चलाया। इतनी बड़ी सेना, इतना समाज लेकर जाने की क्या आवश्यकता थी? अन्त में लौटकर उन्होंने राज्य चलाया। परन्तु ऐसी बात नहीं है।

भरतजी के दर्शन को समझिए। भरतजी का मत है कि वस्तुत: इसे राज्यपद मानने पर ही सारे अनर्थ खड़े होते हैं। यह राजपद नहीं, रामपद है। इसके स्वामी तो श्रीराम हैं और श्रीराम के पद पर यदि कोई व्यक्ति अपने स्वामित्व का दावा करे, तो वह अपराधी है, धृष्ट है। इसीलिए जब प्रभु ने उन्हें पादुकाएँ दीं, तो भरत ने उसको नया अर्थ दिया। उन्होंने कहा – पादुका जो दी जाती है, वह अपने पैरों में पहनने के लिए नहीं दी जाती। वह मेरे पैर के लिए नहीं है। यह तो प्रभु के पद की पादुका है।

प्रभु ने यदि पादुका दी है, तो अपने पद के लिए दी होगी। अर्थात् प्रभु ने यह स्वीकार कर लिया कि अयोध्या का जो पद है, वह उन्हीं का पद है। इसीलिए भरतजी प्रभु की पादुका को अयोध्या के सिंहासन पर बैठा देते हैं। भरतजी के लिए मानो वह राजपद नहीं, रामपद है। भक्त की दृष्टि भीष्म पितामह की दृष्टि से बहुत आगे है। उसके लिए वह राजपद कैसे हो सकता है! भक्त के लिए तो वह रामपद है।

लक्ष्मणजी का अभिप्राय यह है कि अन्य व्यक्ति तो उसे राजपद मानकर छीना-झपटी करते हैं, पर भरत तो साधु हैं, भक्त हैं और वे रामपद मानते थे, मगर आश्चर्य की बात यह है कि राजपद को रामपद माननेवाला व्यक्ति भी बदल गया! राजपद में अभिमान होना एक बात है, पर राम का पद पाकर तो व्यक्ति को अभिमान से मुक्त हो जाना चाहिए, क्योंकि प्रभु का पद तो सेवा की वस्तु है। इसलिए रामपद के मूल दर्शन के आधार पर लक्ष्मण सोचते हैं कि आज तक तो भरत रामपद मानते थे, पर अब शायद उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है, जो रामपद को अपना पद मानने की भूल कर रहे हैं। और फिर तो उन्होंने भरत के लिए नये-नये विशेषणों का उपयोग करते हुए कहा – भरत नीतिमान, साधु तथा विवेकी के रूप में प्रसिद्ध हैं; वे कुटिल तथा खोटे भाई भी आपका कुसमय देखकर और यह जानकर कि आप वन में अकेले हैं, मन में कुभाव लेकर, समाज को जोड़कर अपने राज्य को निष्कंटक बनाने आये हैं। कितने ही प्रकार की कुटिलताएँ रचकर और सेना को एकत्र करके दोनों भाई आये हैं –

भरतु नीतिरत साधु सुजाना।
प्रभु पद प्रेमु सकल जगु जाना ।। ...
कुटिल कुबन्धु कुअवसरु ताकी।
जानि राम बनबास एकाकी ।।
करि कुमंत्रु मन साजि समाजू।
आए करै अकंटक राजू ।।
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई।
आए दल बटोरि दोउ भाई ।। २/२२८/२,४-६

और फिर चुनौती के स्वर में वे कहने लगे – महाराज, कब तक सहूँ? कब तक अपने क्रोध को रोकूँ? अब कृपा करके आप रोकियेगा मत –

कहँ लगि सहिअ रहिअ मनु मारें।
नाथ साथ धनु हाथ हमारें ।। २/२२९/८

प्रभु कह सकते हैं – मैं तो नहीं लड़ूँगा। – "कोई बात नहीं। आप मत लड़िए। पर आप यहीं तो रहेंगे न, चले तो

नहीं जाएँगे। तो फिर क्या चिन्ता ! आप साथ में हैं और धनुष हाथ में है।''

लक्ष्मणजी कहते हैं कि मेरे हाथ में यदि धनुष है, तो मैं अयोध्या की सारी सेना, भरत और उसके छोटे भाई को भी दिखा दूँगा – जैसे सिंह हाथियों के झुण्ड को कुचल डालता है और जैसे बाज लव पक्षी को पकड़ लेता है, उसी प्रकार मैं भरत की सेना तथा उसके छोटे भाई सहित उसका तिरस्कार करके मैदान में पछाड़ूँगा। आज मैं श्रीराम के सेवक होने का यश प्राप्त करूँगा और भरत को युद्ध में शिक्षा दूँगा –

जिमि करि निकर दलइ मृगराजू ।
लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू ।।
तैसेहिं भरतहि सेन समेता ।
सानुज निदरि निपातउँ खेता ।।
आजु राम सेवक जसु लेऊँ ।
भरतहि समर सिखावन देऊँ ।। २/२३०/६-७, ३

– महाराज, भरत तो युद्धकला भी नहीं जानते, घर में ही बैठे रहे। और उनका साहस तो देखिये – सेना लेकर आपसे लड़ने चले आ रहे हैं। उलाहना था। यह जो लड़ने का साहस है, वह आपने उसे दिया। – क्या कहा? – प्रभो, जब भी खेल होता था, तो आप भरत को जिता देते थे। जिताते तो आप थे, पर वह मान लेता था कि वह जीत गया। इससे उसने समझ लिया कि जिन्हें रोज खेल में हराते थे, उसे युद्ध में क्यों नहीं हरा देंगे ! परन्तु आज मैं बताऊँगा। अब मैं भरत को दिखाऊँगा कि युद्ध क्या होता है !

लक्ष्मणजी बोलते चले जा रहे हैं। प्रभु अवाक् होकर सुन रहे हैं। लक्ष्मण को रोकें तो कैसे रोकें। लक्ष्मण बोल रहे हैं और यह भी कह देते हैं कि मैं आपसे पूछ भी नहीं रहा हूँ, क्योंकि मुझे पता है कि भरत के विषय में तो आप केवल यही कहेंगे कि भरत तो बहुत अच्छा है। तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ – मैं समझ गया हूँ कि भरत कैसे हैं और आज मैं उनका संहार कर दूँगा। भरत रोज शंकर की पूजा करते हैं। यदि शंकर सोचें कि चलो, अपने भक्त की ओर से लड़ेंगे, तो अन्य संसार के राजा और सैनिकों की बात क्या है, यदि स्वयं शंकर भी भरत की ओर से लड़ने आयें, तब भी मैं भरत का वध कर दूँगा।

प्रभु लक्ष्मणजी का बड़ा लम्बा भाषण सुन रहे हैं। तभी आकाशवाणी होती है। देवताओं के मन में डर समा गया कि युद्ध तो होना चाहिए राम और रावण का, परन्तु यदि कहीं राम-भरत का या लक्ष्मण-भरत का युद्ध हो गया, तब तो सर्वनाश हो जायगा। देवताओं ने आकाशवाणी में कहा – ''महाराज, आपके प्रभाव और प्रताप का वर्णन कौन कर सकता है, लेकिन उचित-अनुचित का भी विचार कर लेना चाहिए।'' देवताओं का यह वाक्य सुनते ही लक्ष्मणजी चुप हो गये, स्तब्ध हो गये। मुँह से शब्द नहीं निकल रहा है। प्रभु के होठों पर हँसी आ गई। प्रभु के सामने इतना तेजोमय भाषण और देवताओं की बात सुनते ही चुप्पी, यह संकोच !

लक्ष्मणजी ने सोचा कि यदि प्रभु पूछ दें – लक्ष्मण, तुमने मुझसे तो पूछा ही नहीं कि भरत के साथ क्या करें, परन्तु देवताओं की बात सुनते ही तुमने भरत के विरुद्ध बोलना बन्द कर दिया। तो क्या तुम्हारी दृष्टि में मेरी अपेक्षा देवताओं की महत्ता अधिक है? लक्ष्मणजी का उत्तर था – प्रभो, भला देवताओं से आपकी क्या तुलना हो सकती है? लेकिन एक ऐसी बात है, जहाँ देवता आपकी अपेक्षा आगे हैं। – क्या? बोले – आप बड़े भोले-भाले हैं। आप सरल-हृदय हैं, स्वार्थी तो हैं नहीं।

नाथ सुहृद सुठि सरल चित
शील सनेह निधान ।। २/२२७

तो महाराज, आप महानतम हैं, तथापि मैं ऐसा बिलकुल नहीं मानता कि आप अच्छे पारखी भी हैं। आप तो सबको अच्छा ही बताते रहते हैं, लेकिन ये देवता पक्के स्वार्थी हैं और स्वार्थी व्यक्ति बड़ा पारखी होता है। वह कोई सिक्का लेता है, तो डरता है कि कहीं कोई खोटा सिक्का न मिल जाय। तो प्रभो, आप यदि कहते कि भरत अच्छे हैं, तो मैं यही सोचता कि अपने स्वभाव से कह रहे हैं, शील से कह रहे हैं, लेकिन यदि देवता भी कह रहे हैं, तो लगा कि मैं बड़ा अनुचित बोल गया।

राम-चरित-मानस और वाल्मीकि रामायण में इस घटना के वर्णन में अन्तर है, परन्तु इसे आप वाल्मीकि रामायण की निन्दा मत मान लीजिएगा। यह तो सापेक्ष शब्द है। वाल्मीकि रामायण में आता है कि भगवान राम ने लक्ष्मण को फटकारा और यहाँ तक कह दिया कि यदि तुम्हारे मन में राज्य की इच्छा हो, तो मैं भरत से कहकर राज्य तुम्हें दिला दूँगा। उससे सिद्ध होता है कि भगवान राम का भरत में इतना भरोसा है कि उन्होंने लक्ष्मणजी को ही फटकार दिया। परन्तु इस कल्प के जो श्रीराम है, वे फटकारते नहीं है, बल्कि लक्ष्मण को सम्मान देते हैं। भरत से प्रेम करने का अर्थ यह थोड़े ही है कि लक्ष्मण को फटकार दें। प्रेम भरत के प्रति है, लेकिन प्रभु लक्ष्मण की भावना का भी बड़ा सम्मान करते हैं – देखो, कितना मेरे प्रति इसका स्नेह है कि इसके मन में कल्पना मात्र आ गई कि मेरे विरुद्ध भरत आ रहे हैं और उतने में ही यह सबका वध करने के लिए प्रस्तुत हो गया, यह मुझसे कितना प्रेम करता है ! ❖ **(क्रमशः)** ❖

देशभक्ति की सीढ़ियाँ

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

देशभक्ति का अर्थ वैसे तो स्पष्ट है, पर उसकी मूल भावना को जीवन में उतारने के लिए हमें विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। इस सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द के विचार इतने सटीक और प्रेरक हैं कि वे देशभक्ति के यथार्थ मर्म को उद्घाटित करके रख देते हैं। वे कहते हैं – ''लोग देशभक्ति की चर्चा करते हैं। मैं भी देशभक्ति में विश्वास करता हूँ और देशभक्ति के सम्बन्ध में मेरा भी एक आदर्श है। बड़े काम करने के लिए तीन बातों की जरूरत होती है। पहला है हृदय – अनुभव की शक्ति। बुद्धि या विचार-शक्ति में क्या धरा है? वह तो कुछ दूर जाती है और बस वहीं रुक जाती है। पर हृदय? – हृदय तो महाशक्ति का द्वार है; अन्तःस्फूर्ति वहीं से आती है। प्रेम असम्भव को भी सम्भव कर देता है।''

इतना कहकर वे सम्बोधित करते हुए कहते हैं, ''अतएव, ऐ मेरे भावी सुधारको! मेरे भावी देशभक्तो! तुम हृदयवान बनो। ... क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि लाखों आदमी आज भूखों मर रहे हैं और लाखों लोग शताब्दियों से इसी भाँति भूखों मरते आये हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादलों ने सारे भारत को ढँक लिया है? क्या तुम यह सब सोचकर द्रवित हो जाते हो? क्या इस भावना ने तुम्हारी नींद को गायब कर दिया है? क्या यह भावना तुम्हारे रक्त के साथ मिलकर तुम्हारी धमनियों में बहती है? क्या वह तुम्हारे हृदय के स्पन्दन से मिल गयी है? क्या उसने तुम्हें पागल-सा बना दिया है? क्या देश की दुर्दशा की चिन्ता ही तुम्हारे ध्यान का एकमात्र विषय बन बैठी है? और क्या इस चिन्ता में विभोर हो तुम अपने नाम-यश, स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति, यहाँ तक कि अपने शरीर की भी सुधि बिसार चुके हो? क्या सचमुच तुम ऐसे हो गये हो? तो जानो कि तुमने देशभक्त होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है - हाँ, केवल पहली सीढ़ी पर!

स्वामी विवेकानन्द देशभक्ति का पहला सोपान बताकर दूसरे सोपान की चर्चा करते हुए कहते हैं – ''अच्छा माना कि तुम अनुभव करते हो, पर पूछता हूँ कि क्या केवल व्यर्थ की बातों में शक्तिक्षय न करके इस दुर्दशा का निवारण करने के लिए तुमने कोई यथार्थ कर्तव्य-पथ निश्चित किया है? क्या लोगों को गाली न देकर उनकी सहायता का कोई उपाय सोचा है? क्या उनके दुःखों को कम करने के लिए दो सांत्वनादायक शब्दों को खोजा है? – यही दूसरी बात है।''

पर विवेकानन्द यहीं पर नहीं रुकते। वे देशभक्ति की तीसरी कसौटी बताते हुए कहते हैं – ''पर केवल इतने से पूरा न होगा। क्या तुम पर्वतकाय विघ्न-बाधाओं को लाँघकर कार्य करने के लिए तैयार हो? यदि सारी दुनिया हाथ में नंगी तलवार लेकर तुम्हारे विरोध में खड़ी हो जाय, तो भी क्या जिसे तुम सत्य समझते हो, उसे पूरा करने का साहस करोगे? यदि तुम्हारे स्त्री-पुरुष तुम्हारे प्रतिकूल हो जायँ, भाग्यलक्ष्मी तुमसे रूठकर चली जायँ, नाम-कीर्ति भी तुम्हारा साथ छोड़ दे, तो भी क्या तुम उस सत्य में लगे रहोगे? फिर भी तुम उसके पीछे लगे रहकर अपने लक्ष्य की ओर सतत बढ़ते रहोगे? ... क्या तुममें ऐसी दृढ़ता है? – बस यही तीसरी बात है। यदि तुममें ये तीन बातें हैं, तो तुममें से प्रत्येक अद्भुत कार्य कर सकता है। तब फिर तुम्हें समाचार-पत्रों में छपवाने की अथवा व्याख्यान देते हुए फिरते रहने की आवश्यकता न होगी, स्वयं तुम्हारा मुख ही दर्पण हो जायेगा।''

स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित देशभक्ति के ये तीन सोपान हमारे लिए मननीय हैं। अपनी देशभक्ति को कसौटी पर कसने हेतु ये हमारे लिए निकष का काम करते हैं। ये हमारे नेत्रों को खोलने के लिए अंजन-स्वरूप हैं तथा आज के स्वार्थान्धकार आच्छन्न परिवेश में दीप-स्तम्भ के समान हैं।

भागवत की कथाएँ (१)

स्वामी अमलानन्द

(श्रीमद् भागवतम् पुराणों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसकी कथाओं ने युग-युग से मनुष्य को धर्म के प्रति आस्था-विश्वास दिया है जिससे भारतवासियों ने दृढ़ आत्म-विश्वास प्राप्त किया है। उन्हीं कथाओं में से लेखक ने कुछ का चयन करके सरल भाषा तथा संक्षेप में पुनर्लेखन किया है। 'विवेक-ज्योति' के लिये इस ग्रन्थ का सुललित अनुवाद किया है छपरा के डॉ. केदारनाथ लाभ, डी. लिट्. ने। – सं.)

भागवत की रचना

भागवत भारतवर्ष के राष्ट्रीय-साहित्य की एक अक्षय-कीर्ति है। अट्ठारह पुराणों में यह अन्यतम है। पहले यह ग्रन्थाकार रूप में नहीं था। स्वयं भगवान ने ब्रह्माजी को मौखिक रूप से इस भागवत की विषय-वस्तु कही। फिर ब्रह्माजी ने अपने शिष्य तथा पुत्र नारद को इसकी शिक्षा दी।

नारद के विषय में यहाँ कुछ बताना आवश्यक है। पुराणों में हमें प्राय: ही नारद का वर्णन मिलता है। वे वीणा-वादन करते हुए हरि का कीर्तन-गुणगान करते हैं। स्वर्ग-मर्त्य-पाताल सभी लोकों में उनका आवागमन होता रहता है। वे देवता और मनुष्य – सबके बीच जा सकते हैं और सबके कल्याण की चेष्टा करते हैं। अपने पूर्वजन्म में वे एक असहाय-नि:सम्बल दासीपुत्र थे। पर भगवान की पूजा-आराधना करके उनकी कृपा से परवर्ती जन्म में वे ब्रह्मा के पुत्र हुए। नारद का नाम हमें भागवत के अनेक स्थलों पर मिलेगा।

नारदजी ने ही व्यासदेव को भागवत की रचना करने की सलाह दी थी। व्यासदेव महापण्डित थे। उन्होंने ऋक्, साम, यजुष् और अथर्व वेद के नाम से महाविशाल वेदशास्त्र का चार भागों में विभाजन किया। महाभारत भी उन्हीं की रचना है, पर इतना सब करने पर भी उनके मन में प्रसन्नता नहीं थी, सन्तुष्टि नहीं थी। उन्होंने अनुभव किया कि उनके जीवन में मानो कोई एक अभाव रह गया है, एक कमी रह गयी है। एक दिन नारद व्यासदेव के तपोवन में आए। उन्हें व्यासदेव के मन की अशान्ति की बात ज्ञात हुई। सब कुछ जान-सुनकर उन्होंने व्यासदेव को श्रीहरि की लीलाकथा का वर्णन करते हुए एक अन्य ग्रन्थ लिखने की सलाह दी। नारदजी के परामर्श से व्यासदेव ने श्रीमद् भागवत की रचना की। उनके पुत्र शुकदेव ने पिता से भागवत-शास्त्र के ज्ञान पर पूर्ण आधिपत्य प्राप्त किया। फिर शुकदेवजी ने ही मृत्युपथ के यात्री राजा परीक्षित को भागवत सुनाया।

इस प्रकार भागवत को सर्वप्रथम भगवान विष्णु ने ब्रह्मा को सुनाया। ब्रह्मा ने उसे नारद को कहा। नारद ने वेदव्यास को कहा। पिता से यह तत्वकथा शुकदेव को मिली। उन्होंने राजा परीक्षित को जो कहा उसे श्रुतिधर मुनि सूत-उग्रश्रवा ने सुना था। उन्होंने शौनक आदि मुनियों की सभा में उसकी व्याख्या की। इन सबकी हम क्रमश: चर्चा करेंगे।

भागवत में १२ स्कन्ध (शाखा) तथा ३३५ अध्याय और कुल अट्ठारह हजार श्लोक हैं। उनमें से थोड़ा-कुछ लेकर हम अपने गुलदस्ते को सजाने का प्रयास करेंगे और इसके द्वारा हम सत्यस्वरूप परमेश्वर का ध्यान करेंगे।

प्रथम स्कन्ध

सूतमुनि द्वारा भागवत का प्रचार

नैमिषारण्य में शौनक आदि ऋषियों ने एक बहु-दिवसीय यज्ञ आरम्भ किया था। उसमें रोमहर्षण के पुत्र सूत-उग्रस्रवा उपस्थित हुए थे। सूत का अर्थ है – एक तरह के सुगायक और सुवक्ता मुनि। ये लोग मन लगाकर एक बार भी जो कुछ सुन लेते थे, वह उन्हें कण्ठस्थ हो जाता था। इसी से उन्हें श्रुतिधर कहा जाता है। सूत-उग्रस्रवा इसी प्रकार के एक मुनि थे। ऋषिगण उनके मुख से हरिकथा सुनना चाहते थे। श्रीकृष्ण ने वसुदेव-देवकी के घर में जन्म लेकर जो लीलाएँ की थीं, वे लोग विशेषकर उन्हीं को सुनने के इच्छुक थे।

सूत बोले – "आप लोगों ने अति उत्तम प्रसंग उठाया है। भागवत-कथा में प्रीति न हो, तो सारे अनुष्ठान ही व्यर्थ के श्रम मात्र ही होते हैं। समस्त वेदों के प्रतिपाद्य वासुदेव (श्रीकृष्ण) हैं; समस्त यज्ञों के लक्ष्य वासुदेव हैं, समस्त योगों के प्राप्य वासुदेव हैं और समस्त क्रियाओं की गति वासुदेव हैं। वे ही जीवों की परम गति हैं।[१]

वासुदेव श्रीकृष्ण ही लीलामय हरि हैं। वे ही युग-युग में अवतार ग्रहण करते हैं। महामति व्यासदेव ने श्रीभगवान की लीला-कथा – भागवत पुराण की रचना की तथा अपने पुत्र शुकदेव को उसकी शिक्षा दी। श्रीकृष्ण के महाप्रयाण के पश्चात् जब सब कुछ अन्धकारपूर्ण हो रहा था, तब इसी भागवत पुराण ने सूर्य के समान आलोक प्रदान किया था। शुकदेव के श्रीमुख से महाराज परीक्षित के साथ यह पुराण-कथा मैंने एकाग्र चित्त से सुनी है – इसी से आप लोगों के समक्ष इसका कीर्तन कर मैं धन्य होऊँगा।"

अवतार-कथा

सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान ने संसार की सृष्टि करने के

१. वासुदेव परं ज्ञानं वासुदेव परं तप:।
वासुदेव परो धर्मो वासुदेवपरा गति:॥ १/२/२९

लिए पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच महाभूत एवं मन – इन सोलह अंशों से रचित पुरुषमूर्ति धारण किया।

वे ही परम पुरुष विष्णु जब महासमुद्र में योगनिद्रा में सोये हुए थे, तब उनके नाभि-कमल से ब्रह्मा का जन्म हुआ।

परम पुरुष विष्णु ही समस्त अवतारों के उत्पत्ति-स्थल हैं। सामान्यत: हम लोग दस अवतारों की कथा ही जानते हैं। परन्तु भागवत ने २४ अवतारों[२] की बात कहने के बाद अन्य अवतारों की कथा भी जोड़ दी है। जैसे सरोवर से छोटी नदियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार सृष्टि की मूलधारा श्रीहरि से असंख्य अवतार आविर्भूत होते हैं। कोई उनके अंश और कोई उनकी कला या विभूति हैं। किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं भगवान हैं।[३] वे युग-युग में अवतरित होकर दैत्यों से पीड़ित लोगों की रक्षा करते हैं।

राजा परीक्षित

राजा परीक्षित वीर अभिमन्यु के पुत्र थे। वे अपनी माँ के गर्भ में ही श्रीकृष्ण की कृपा पाकर धन्य हुए थे। पाण्डवों द्वारा द्रौपदी के साथ महाप्रस्थान की यात्रा शुरू करने के पूर्व युधिष्ठिर ने अपने पौत्र परीक्षित का राज्याभिषेक कर दिया।

एक दिन राजा परीक्षित शिकार करने निकले। रास्ता भूल जाने से वे घने जंगल में चले गए। भूख-प्यास से वे बड़े व्याकुल हो उठे। उसी समय उन्होंने देखा कि वहाँ तपोवन में एक मुनि ध्यान में लीन होकर बैठे हैं। बड़ी आशा के साथ राजा ने मुनि के समक्ष प्यास बुझाने के लिए जल की इच्छा व्यक्त की। मुनि ने कोई उत्तर नहीं दिया। जल की कोई व्यवस्था नहीं हो सकी। तब प्यास से आकुल राजा धैर्य गँवा बैठे। दु:ख और क्षोभ से भरकर मुनि के गले में एक मरा हुआ साँप लपेट कर राजा जल की खोज में अन्यत्र चले गए। इन मुनि का नाम शमीक था। शमीक के बालकपुत्र श्रृंगी थोड़ी देर बाद लौटे। अपने पिता की यह हालत देखकर वे बड़े क्रोधित हो उठे और शाप दिया – "जिसने भी मेरे पिता का ऐसा अपमान किया है, उसे सात दिनों के भीतर विषधर तक्षक (नाग) के डँसने से प्राण-त्याग करना होगा।"

श्रृंगी के इस क्रोध तथा अभिशाप की बात शमीक मुनि ने सुनी। उन्होंने अपने ध्यान में जान लिया कि यह अभिशाप देश और धर्म के रक्षक परम धार्मिक राजाधिराज परीक्षित पर पड़ा है। उन्होंने अपने पुत्र की भर्त्सना की – "अरे बालक! तूने यह क्या किया? राजा से न्याय के विरुद्ध कोई आचरण तो नहीं हुआ। प्यास मिटाने के लिए पानी न मिलने पर क्रोध होना तो स्वाभाविक ही है।" परन्तु श्रृंगी का अभिशाप व्यर्थ जानेवाला नहीं था। अत: मुनि ने महाराज परीक्षित को इस दु:खद समाचार से अवगत करा दिया। अभिशाप की बात सुनकर राजा परीक्षित स्तब्ध रह गए। उन्होंने अपना अपराध स्वीकार भी कर लिया। परन्तु अब उपाय भी क्या था! अत: वे मृत्यु के लिए तैयार होने लगे। अपने पुत्र जनमेजय को राज्यभार देकर उन्होंने गंगाजी के तट पर अपना आसन बिछा दिया और तय किया कि वे निराहार रहकर देहत्याग करेंगे।

मात्र सात दिनों के अन्दर राजा की मृत्यु होगी – यह बात जिन्होंने भी सुनी, वे हाय-हाय करने लगे। ऋषि-मुनिगण भी आकर राजा के निकट एकत्र हुए। तभी स्वेच्छा से घूमते-घूमते परम पवित्र तरुण तपस्वी शुकदेव गंगातट पर आ उपस्थित हुए। परीक्षित ने कहा – "हे महायोगी, जिस प्रकार विष्णु के सान्निध्य से असुरों का नाश होता है, उसी प्रकार आपके सामिप्य से मनुष्य का महापाप भी तत्क्षण नाश हो जाता है। क्या पाण्डवों के सखा श्रीकृष्ण ने मेरी मृत्यु के समय आपको यहाँ भेजा है? आप जीवन्मुक्त, योगियों के परम गुरु हैं। मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ कि मृत्यु जिसके निकट आ पहुँची हो, ऐसे व्यक्ति के लिए सर्वोत्तम मंगलकारी क्या है? उसके लिए क्या करना उचित है? मेरे लिए क्या कर्तव्य है? किसका स्मरण करना उचित है? या फिर किसका भजन करने की आवश्यकता है?

द्वितीय स्कन्ध

शुकदेव का उपदेश

शुकदेव ने कहा – "महाराज, आपने बड़ा उत्तम प्रश्न किया है। विषय-वासनाओं में मतवाले मनुष्य का इस ओर ध्यान ही नहीं जाता। उसका जीवन लापरवाही में ही समाप्त हो जाता है। बीच-बीच में यदि वह अपने कर्मफल की बात पर विचार करे, तभी उसका कल्याण होता है। इससे मन में परमार्थ-विचार की बात आती है। इसके प्रमाण हैं – राजा दिलीप। खटांग को जब पता चला कि उनकी आयु समाप्त हो गयी है, तो उन्होंने तत्काल संसार का त्याग कर दिया। दिलीप राजा का एक दूसरा नाम खटांग था।

"खटांग राजा अत्यन्त प्रबल और पराक्रमी थे – उन्होंने देवताओं का पक्ष लेकर राक्षसों के साथ युद्ध किया। उनकी सहायता से दैत्यों की मृत्यु होने पर, देवताओं ने प्रसन्न होकर उन्हें वरदान देना चाहा। खटांग राजा ने जानना चाहा कि

२. भागवत में निरूपित २४ अवतारों के नाम निम्नलिखित हैं – (१) सनक आदि (२) वराह (३) नारद (४) नर तथा नारायण ऋषि (५) कपिलमुनि (६) दत्तात्रेय (७) यज्ञ (८) ऋषभ (९) पृथु (१०) मत्स्य (११) कुर्म (१२) धन्वन्तरी (१३) मोहिनी (१४) नृसिंह (१५) वामन (१६) परशुराम (१७) व्यासदेव (१८) रामचन्द्र (१९) बलराम (२०) कृष्ण (२१) बुद्ध (२२) कल्कि (२३) हयशीर्ष (२४) हंस

३. एते चांशकला: पुंस: कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रादि व्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥ १/३/२८

उनकी आयु में अब कितने दिन बाकी बचे हैं। देवताओं ने बताया – 'आपका जीवन-काल मात्र थोड़ा-सा ही बचा है।' तब उन्होंने कोई वरदान न माँगकर, देवताओं से उनका विमान लिया और अपने राज्य में लौट आये। वहाँ उन्होंने सब कुछ छोड़कर अपना ध्यान भगवान श्रीहरि में केन्द्रित किया। फलत: श्रीहरि से अभय आश्रय पाकर वे धन्य हुए।

"हे कौरव्य! आपका जीवन केवल एक सप्ताह और बचा है। अत: परलोक के लिए जो कुछ करने की जरूरत है, उसे इसी अवधि में कर डालना उचित है। आप पवित्र होकर 'ॐ' मंत्र का जप कीजिए। इस ब्रह्मबीज प्रणव मंत्र का जप करते-करते मन स्थिर होगा। अटल-स्थिर मन से ईश्वर का चिन्तन करने पर आपको भगवान की प्राप्ति होगी।"

इस प्रकार शुकदेव ने परीक्षित को उपदेश दिया। उसके उपरान्त उन्होंने योग और ध्यान की बातें विस्तारपूर्वक कहीं। उन्होंने और भी कहा – "ये सारी बातें प्राचीन काल में भगवान विष्णु ने ब्रह्माजी को कही थीं। ब्रह्माजी एकाग्र चित्त होकर विचार-विश्लेषण करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भक्ति से ही श्रीहरि के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है।"

शुकदेव का तत्वोपदेश सुनकर परीक्षित ने अपना समस्त मन-प्राण श्रीकृष्ण को समर्पित कर दिया। सब कुछ छोड़कर आने पर भी आसक्ति नहीं जाती। परन्तु मृत्यु अत्यन्त निकट थी, इसीलिये राजा सारी आसक्तियों का त्याग करके भगवान श्रीकृष्ण के प्रगाढ़ प्रेम में डूब गए। राजा ने शुकदेव से कहा – "अन्त में अपने समग्र मन को अपने प्रियतम के श्रीचरणों में समर्पित करके किस प्रकार मैं शरीर-त्याग कर सकूँगा, कृपया अब आप वे बातें ही बताइये।"[४]

चार श्लोकों में भागवत

महामुनि शुकदेव ने भागवत की कथा का शुभारम्भ किया। शुक पक्षी (तोते) की भाँति शुकदेव का कण्ठस्वर अत्यन्त मधुर था। अपने सुमधुर स्वर में उन्होंने कहा – "स्वयं श्रीभगवान ने ब्रह्मा से जो भागवत तत्त्व कहा था, पहले मैं आपको वही बताता हूँ। श्रीभगवान ने कहा था –

अहमेवा समेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्यते सोऽस्म्यहम्।।

– इस जगत् की सृष्टि होने के पहले एकमात्र मैं ही था। स्थूल या सूक्ष्म अथवा इस संसार की कारण-रूप प्रकृति (मुझमें विलीन रहने के कारण) – कुछ भी नहीं था।

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः।।

– माया के कारण ही आत्मा में अवस्तु (देह, इन्द्रिय आदि) का बोध होता है, और यथार्थ वस्तु आत्मा का ज्ञान नहीं होता। उदाहरणार्थ जैसे एक चन्द्रमा को दो चन्द्रमा दिखना (जो नहीं है, उसके होने का बोध) अथवा ग्रह-मण्डल में 'राहु' के होने पर भी उसे देखा नहीं जाता (जो है, उसके न होने का बोध होना)।

यथा महान्ति भूतानि
भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्य प्रविष्टानि
तथा तेषु न तेष्वहम्।।

– मैं संसार में प्रविष्ट (व्याप्त) हूँ, परन्तु सृष्ट वस्तु नहीं हूँ, जैसे सूक्ष्म महाभूत[५] समस्त स्थूल भूतों में अन्त:प्रविष्ट हैं, पर वे स्थूल भूतों के कारण हैं, स्वयं स्थूलभूत स्वरूप नहीं हैं; ठीक वैसे ही मैं भी सृष्टि के भीतर कारण रूप में अनु-प्रविष्ट हूँ, परन्तु कार्यवस्तु जगत् नहीं हो जाता हूँ।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः।
अन्वय व्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा।।
२/९/३२-३५

– जिज्ञासु को यह समझ लेना होगा कि मैं अन्वय तथा व्यतिरेक के द्वारा – अर्थात् 'हाँ' तथा 'नहीं' – इन दो तरह के विचार-धाराओं के द्वारा प्राप्य हूँ। कार्यों में मैं कारण रूप में अर्थात् जाग्रत आदि अवस्थाओं में साक्षी रूप में हूँ, अत: मेरा अस्तित्व है; यह हुआ 'हाँ'। और जब मैं केवल कारण अवस्था में रहता हूँ, तब प्राप्य नहीं होता अर्थात् समाधि की अवस्था में कार्य-जगत् और जाग्रत आदि अवस्था नहीं रहती – यह है 'नहीं'।[६]

❖ (क्रमशः) ❖

शुल्क वृद्धि की सूचना

कागज, मुद्रण, डाक आदि की दरों में वृद्धि हो जाने के कारण पिछले कई वर्षों से 'विवेक-ज्योति' घाटे में चल रही है। इस कारण आगामी जनवरी २००७ से हमें इसके शुल्क में मामूली वृद्धि करनी पड़ रही है। अब इसका वार्षिक शुल्क रु. ६०/- तथा पाँच वर्षों के लिये रु. २७५/- होगा। **– व्यवस्थापक**

४. कथयस्व महाभाग यथाऽहमखिलात्मनि।
कृष्णे निवेश्य नि:संगं मनस्त्यक्ष्ये कलेवरम्।। २/८/३

५. महाभूत पाँच हैं – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश)

६. स्मरणीय – श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि ईश्वर ही वस्तु हैं और सब अवस्तु है।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(७६) मोरे एक सबई तुम्ह स्वामी

पार्वतीजी ने मन-ही-मन शिवजी को पति के रूप में वरण कर लिया था और उन्हें प्राप्त करने के लिये उन्होंने समुद्र-तट पर स्थित एक शिला पर दण्डायमान होकर घोर तपस्या आरम्भ की। शिवजी प्रसन्न होकर प्रकट हुए और उनसे वर माँगने को कहा। पार्वतीजी ने उनसे स्वयं को पत्नी के रूप में स्वीकार करने की प्रार्थना की। शिवजी ने प्रार्थना स्वीकार की और अन्तर्धान हो गये।

सहसा पार्वतीजी को एक शिशु के रोने की आवाज सुनाई दी। उन्होंने सिर घुमाकर देखा कि एक मगर ने एक शिशु को अपने जबड़े में पकड़ रखा है, इसी कारण वह रो रहा है। पार्वतीजी का हृदय पसीज उठा। उन्होंने मगर से शिशु को छोड़ने की प्रार्थना की। मगर बोला, ''यह मेरा आहार है। इसी प्रकार मुख में आया आहार छोड़ता रहूँ, तो जीवित कैसे रहूँगा?'' पार्वतीजी ने कहा, ''मैंने अभी-अभी अपनी तपस्या पूरी की है। तपस्या से मुझे पुण्य प्राप्त हुआ है, अत: भला चाहते हो, तो वह शिशु मुझे दे दो। मगर बोला, ''यदि तुम मुझे वह पुण्य दे दो, तो मैं शिशु को सहर्ष छोड़ दूँगा।'' पार्वती ने कहा, ''मेरी घोषणा है कि इस शिशु की रक्षा के लिये मैं तपस्या का सारा पुण्य तुम्हें देती हूँ।''

मगर का शरीर सहसा तेज से चमक उठा। उसने कहा, ''देवी, अपने घोर कष्ट द्वारा प्राप्त पुण्य को तुमने मात्र शिशु के लिये मुझे समर्पित कर दिया। यह देख मैं प्रसन्न होकर बालक और पुण्य दोनों को वापस कर रहा हूँ।'' पार्वतीजी ने दृढ़ स्वर में कहा – ''परन्तु एक बार मैंने जो चीज दे दी है, उसे वापस नहीं ले सकती।'' उनके ये शब्द कहते ही मगर तथा शिशु दोनों अदृश्य हो गये और वहाँ शिवजी प्रकट हुये। उन्होंने पार्वतीजी से कहा, ''मैं तुम्हारी परीक्षा ले रहा था। तुम्हारी करुणा और त्याग से मैं तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम सचमुच महान् हो।''

कठोर साधना का दूसरा नाम ही तप है। ऐसी कठोर साधना से मन निर्मल तथा निष्कलुष हो जाता है और उसमें परोपकार, करुणा, प्रेम, त्याग, उदारता आदि सदगुणों का उदय होता है। पीड़ित जीव की पीड़ा का स्वयं बोध करके मन में करुणा या दया की भावना जाग्रत होना ही संवेदनशीलता है। इसी संवेदनशीलता के कारण पार्वतीजी शिशु की रक्षा के लिये उद्यत हुईं।

(७७) मान-बड़प्पन मीठी छूरी

इटली निवासी मेलनिया नामक एक महिला एक बार सिकंदरिया शहर में गई। वहाँ के कुलपति थियाफिलस की प्रसिद्धि सुनकर वह उनसे मिलने गई। जब उसने कहा कि उसकी किसी सन्त-महात्मा से मिलने की इच्छा है, तो उन्होंने अरसेनियस नामक सन्त का पता बताकर उसे उन्हीं से मिलने की सलाह दी।

सन्त अरसेनियस एकान्त प्रिय थे और शहर से दूर एक गुफा में निवास करते थे। उनका पता पूछते-पूछते बड़ा कष्ट उठाते हुए वह उनसे मिलने पैदल चल पड़ी। सन्त के पास पहुँचकर उसने प्रणाम किया और आशीर्वाद माँगा। सन्त ने कहा, ''आप आशीर्वाद तो माँग रही हैं, परन्तु आप अपने नगर में जाकर लोगों को बड़े गर्व से बतायेंगी कि मेरे दर्शन के लिये आपको बड़ा कष्ट उठाकर इतनी दूर तक पैदल चलना पड़ा। इतना ही नहीं, आप उनको भी मेरे पास आने के लिये प्रेरित करेंगी।''

मेलनिया बोली, ''नहीं, मैं ऐसा कुछ भी नहीं करूँगी। मैं तो यही चाहती हूँ कि आप मेरे कल्याण के लिये भगवान से प्रार्थना करें।'' सन्त ने कहा, ''तब तो मैं भगवान से यही प्रार्थना करूँगा कि वह आपको मेरा स्मरण ही न होने दे।'' यह सुनकर मेलनिया को बड़ा दु:ख तथा पश्चाताप हुआ कि इतनी दूर चलकर वह जिनसे मिलने आई है और वे चाहते हैं कि मैं उनका स्मरण न कर सकूँ। वह बेचारी चुपचाप वहाँ से वापस लौट गई।

सिकंदरिया में जाकर उसने कुलपति थियाफिलस से सारा वृत्तान्त कह सुनाया। तब उन्होंने कहा, ''वास्तव में सन्त इतने महान् हैं कि उन्हें अपना बड़प्पन नहीं सुहाता। वे सुख सन्तोष, आराम के अभिलाषी नहीं हैं, एकान्तप्रिय हैं और प्रचार से दूर रहते हैं। इसी कारण उनका मन पूर्णतया सृजनशील रहता है। एकाकी व्यक्ति कभी भी मानसिक दृष्टि से किसी पर आश्रित नहीं रहता। उन्होंने आपको उनका स्मरण न होने की बात इसलिये कही कि कोई उनका स्मरण करे या न करे, वे दूसरों की भलाई के लिये ईश्वर से स्वयं ही प्रार्थना करते रहते हैं। इसलिये तुम्हें उनके कथन का विपरीत अर्थ नहीं लगाना चाहिये। ❑❑❑

नारदीय भक्ति-सूत्र (१५)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों के जापान-यात्राओं के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

राजगृह-भोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ।।३१।।

अन्वयवयार्थ – **राजगृह** – राजमहल, **भोजन** – आहार, **आदिषु** – आदि, **तथा-एव** – वैसे ही, **दृष्टत्वात्** – दिखाई पड़ता है।

अर्थ – जैसा कि देखा जाता है कि राजमहल या स्वादिष्ट भोजन पर दृष्टिपात करने मात्र से कोई फल नहीं होता। (भक्ति का ज्ञान मात्र किसी को सन्तुष्ट नहीं कर सकता।)

न तेन राजपरितोषः क्षुधा-शान्तिर्वा ।।३२।।

अन्वयवयार्थ – **तेन** – उस (देखने मात्र) से, **न** – नहीं, (होता) **राज-परितोषः** – राजा को सन्तोष, **वा** – या, **क्षुधा-शान्तिः** – भूख की निवृत्ति ।।

अर्थ – और उस (देखने मात्र) से न तो राजा को प्रसन्नता होती है और न ही भूख शान्त होती है।

तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ।।३३।।

अन्वयवयार्थ – **तस्मात्** – अतः, **सा-एव** – वही (भक्ति ही), **मुमुक्षुभिः** मोक्ष-कामियों द्वारा **ग्राह्या** – स्वीकार्य है।

अर्थ – इसलिये मोक्षकामी केवल भक्ति को ही स्वीकार करते हैं।

भक्ति क्या ज्ञान पर निर्भर है या वह सभी पन्थों के परे है? कुछ पूर्ववर्ती सूत्रों में इसी बात पर चर्चा की गई है। (३०वें सूत्र में) नारद कहते हैं कि भक्ति स्वयं अपना फल है। इसे किसी बाह्य सहायता की जरूरत नहीं होती। नारद यहाँ एक दृष्टान्त देते हैं – यदि कोई राजा के महल को जान ले, तो क्या उसके कारण राजा को कोई सन्तोष मिलता है? यदि कोई यह जान ले कि ईश्वर क्या है, तो क्या उससे भगवान को प्रसन्नता होती है? नहीं! जिस प्रकार राजा को जानने मात्र से राजा प्रसन्न नहीं होता, उसी प्रकार भक्ति के सम्बन्ध में जान लेने या ज्ञान रखने से कोई लाभ नहीं होता। किसी के द्वारा ईश्वर को जानने मात्र का यह अर्थ नहीं है कि वह भक्तिमान है। भक्तिमान होने के लिये व्यक्ति को अपने भीतर उस भाव का पोषण करना होगा। इसमें भक्ति-विषयक ज्ञान कोई सहायता नहीं कर पाता। नारद एक अन्य – भोजन का भी उदाहरण देते हैं। विभिन्न स्वादिष्ट पकवानों को जान लेने मात्र से पेट नहीं भरेगा। यदि कोई भूखा है, तो भोजन के बारे में कितना भी ज्ञान उसकी भूख को शान्त करने में सहायक नहीं होगी। व्यक्ति को भोजन ग्रहण करना पड़ेगा।

वैसे ही किसी के ईश्वर-विषयक ज्ञान के द्वारा भक्ति नहीं बढ़ती, जैसे कि भोजन के ज्ञान मात्र से किसी की भूख नहीं मिटती। प्रेमास्पद ईश्वर के साथ विशिष्ट प्रकार का सम्बन्ध ही भक्तों को सन्तुष्ट करने के लिये या ईश्वर को सन्तुष्ट करने के लिये जरूरी है, अतः भक्ति ज्ञान पर निर्भर नहीं है। यहाँ इसे ही सुन्दर ढंग से कहा गया है। यदि व्यक्ति में भक्ति या प्रेम नहीं है, तो उसका ज्ञान किस काम का? किसी व्यक्ति के पास भक्ति है, तो वह उसे ईश्वरोन्मुख कर सकता है, किन्तु भक्ति ज्ञान द्वारा उत्पन्न नहीं होती। यह सहज ही आती है। ज्ञान कम महत्वपूर्ण है और व्यक्ति के लिये यह जानना बिल्कुल भी जरूरी नहीं कि वह अपनी भक्ति किसकी ओर उन्मुख कर रहा है। यहाँ एक आपात् विरोधाभास है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि यदि कोई यह नहीं जानता कि वह अपनी भक्ति किसकी ओर उन्मुख करे, तो वह भक्ति कैसे कर सकता है? उनका तात्पर्य यह है कि भक्ति के लक्ष्य का ज्ञान भक्ति के प्रस्फुटन में सहायता नहीं करता, यह भक्ति को उन्मुख करने में कुछ मदद करता है, मगर भक्ति ज्ञान द्वारा उत्पन्न नहीं होती। यहाँ इसी बात को ध्यान में रखना है।

भक्ति हमारे ज्ञान पर निर्भर नहीं है; यह उससे स्वतंत्र है। हमारे प्रति हमारे राजा की प्रसन्नता या हमारे और राजा के बीच प्रेम-सम्बन्ध राजा के बारे में हमारे ज्ञान पर निर्भर नहीं करता। शत्रु को भी तो राजा के बारे में पूरा ज्ञान हो सकता है, इसी तरह ईश्वर के बारे में सविस्तार चर्चा करनेवाले और सुविज्ञ माने गये लोगों से भी कोई भक्ति नहीं हो सकती। यह एक बुद्धि-विलास – मानसिक कार्य मात्र है, जो व्यक्ति को कहीं नहीं ले जाता। यहाँ इसी बात पर बल दिया गया है।

अब अगला बिन्दु आता है – अन्योन्याश्रयत्व या परस्पर-निर्भरता का। (२९वें सूत्र के सन्दर्भ में) कुछ लोगों द्वारा निरूपित (ज्ञान तथा भक्ति की) परस्पर-निर्भरता एक बड़ा तर्कसंगत तत्त्व प्रतीत होता है। यदि हम अपनी भक्ति के लक्ष्य को जानते हैं, तो स्वाभविक रूप से वह भक्ति समुचित ढंग से उन्मुख की जा सकती है। यदि हम अपनी भक्ति के एक सुयोग्य पात्र के रूप में ईश्वर को जानते हैं, तो हमारी भक्ति स्वत: ही ईश्वर की ओर उन्मुख हो जाती है।

पर नारद का दृष्टिकोण भिन्न है। मान लीजिये कोई व्यक्ति (ईश्वर को) नहीं जानता। तो क्या वह ईश्वर के प्रति भक्ति नहीं रख सकता है? और फिर ईश्वर के जानने के बाद भी कौन अपनी भक्ति को उनकी ओर उन्मुख कर सकता है? उन्हें कभी कौन जान पाया है? हमारा ईश्वर-विषयक ज्ञान बड़ा अपूर्ण या स्वल्प हो सकता है, इसके बावजूद हम अपनी भक्ति को उनके प्रति उन्मुख कर सकते हैं। एक और परिभाषा है, वस्तुत: यह इस पुस्तक की पहली परिभाषा है, जो कहती है कि भक्ति किसी वस्तु के प्रति निर्दिष्ट परम प्रेम है। वहाँ निश्चित तौर पर कहा गया है कि किसी ऐसी वस्तु के प्रति, जिसके बारे में हमारी कोई निश्चित धारणा नहीं है। भले ही हम अपनी भक्ति के लक्ष्य का निश्चित ज्ञान न रखते हों, परन्तु भक्ति हमें सर्वोच्च अनुभूति तक ले जाने में पूर्णतया सक्षम है। यही मुख्य बात है।

अत: भक्ति को उत्पन्न करने में ज्ञान का योगदान नगण्य है, किन्तु साधारण लोगों के सन्दर्भ में इस अल्प सहायता की भी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये। साध्य और साधन को यथासम्भव जानना चाहिये। मेरे कहने का अर्थ यह नहीं है कि वे पूर्णत: आवश्यक हैं। परन्तु वे प्राय: सहायक होते हैं। इस दृष्टान्त पर विचार कीजिये –

एक व्यक्ति से कहा गया, "गाय की पूँछ को पकड़े रहो। यह तुम्हें स्वर्ग ले जायेगी।" वह व्यक्ति अपनी आँखें बन्द करके पूँछ को दृढ़ता से पकड़े रहता है। वह गाय के साथ खिंचकर कँटीली झाड़ियों से गुजरते हुए घायल हो जाता है और उसके शरीर से खूब रक्त बहने लगता है। तो भी वह सोचता है, "मैं स्वर्ग जा रहा हूँ।" कहने का तात्पर्य यह है कि यह तो अन्धे के समान जाना होगा; यह उसे स्वर्ग नहीं ले जायेगी। यह उसे एक दु:ख से दूसरे दु:ख की ओर ले जायेगी। यदि हमें इसकी धारणा ही नहीं है कि हम कहाँ जा रहे हैं, तो हम आगे कैसे बढ़ सकते हैं, उन्नति कैसे कर सकते हैं? यदि हमें एक बड़े मैदान में आँखों पर पट्टी बाँधकर रख दिया जाता है, तो सम्भवत: हम इधर-उधर तो जायेंगे, परन्तु कहीं पहुँचेंगे नहीं।

अत: 'बन्द आँखों' वाली भक्ति अच्छी नहीं है। आँखें खुली रखना आवश्यक है, किन्तु वह तो साधारण लोगों के लिये है और आपत्ति यह है कि भक्ति किसी भी तरह ज्ञान पर निर्भर नहीं है। यह नारद की आपत्ति है। ज्ञान पर भक्ति की निर्भरता निरर्थक है। भक्ति सभी से स्वतंत्र है। यहाँ तक कि यदि कोई व्यक्ति अपना लक्ष्य नहीं जानता, तो भी श्रीरामकृष्ण कहते हैं – भगवान तो जान ही जायेंगे कि उसका मन क्या ढूँढ रहा है। वह नहीं जानता कि ईश्वर को किस प्रकार पुकारना चाहिये, उसे ईश्वर के गुणों का विश्लेषण करने का कोई ज्ञान नहीं है, किन्तु उसमें भक्ति है, और यही भक्ति स्वयं उसे निश्चित रूप से लक्ष्य तक ले जायेगी।

पर अधिकांश साधारण लोगों के मामले में बेहतर होगा कि वे ज्ञान से शुरुआत करें। भले ही वह ज्ञान अधूरा या अपूर्ण हो, तो भी वह सहायक होगा। इसके विपरीत, यदि किसी व्यक्ति को बिल्कुल कुछ भी ज्ञान नहीं है, तथापि यदि वह निष्ठावान है, तो उसकी लगन या निष्ठा उसे लक्ष्य तक पहुँचा देगी। वस्तुत: यह कोई अन्धी प्रक्रिया नहीं है। ईश्वर सर्वज्ञ हैं। यदि वे देखते हैं कि उनका भक्त उन्हें बिना जाने ही ढूँढ रहा है, और जाने का सही मार्ग भी नहीं जानता है, तो ईश्वर ही उसका मार्ग-दर्शन करेंगे। अत: ज्ञान पूरी तरह आवश्यक नहीं है। आवश्यकता है, तो पूरे लगन की – ईश्वर-प्राप्ति के लिये व्याकुलता की। यदि यह लगन और व्याकुलता है, तो दूसरा कुछ भी आवश्यक नहीं। यह व्याकुलता ही व्यक्ति को लक्ष्य तक पहुँचा देगी। श्रीरामकृष्ण के साधक-जीवन के शुरुआत में ही ऐसा दिखता है।

अवतार को अपने जीवन के माध्यम से यह दिखाना होता है कि लक्ष्य-प्राप्ति के लिये क्या साधन होना चाहिये। अत: श्रीरामकृष्ण ने अपने जीवन में यह दिखा दिया है कि केवल आन्तरिक व्याकुलता ही व्यक्ति को सर्वोच्च लक्ष्य तक पहुँचा सकती है। श्रीरामकृष्ण ने प्रारम्भ में किसी प्रकार की सुव्यवस्थित साधना का अभ्यास नहीं किया। वे ईश्वर-दर्शन के लिये व्याकुल थे, वैसे ही जैसे कि एक बालक अपनी माँ के लिये व्याकुल होता है। फिर उस व्याकुलता की चरम अवस्था में उन्हें सहज ही ईश्वर-प्राप्ति हो गई। ईश्वर-दर्शन पाने के बाद ही उन्होंने सुव्यवस्थित साधना प्रारम्भ की थी, क्योंकि संसार के समक्ष यह प्रमाणित करना भी जरूरी था कि ये विभिन्न मार्ग एक ही चरम लक्ष्य तक ले जाते हैं। इसलिये उन्होंने विभिन्न साधनाएँ कीं, पर उससे बहुत पहले ही बिना किसी विशिष्ट साधना प्रक्रिया से गुजरे ही, ईश्वर-दर्शन के लिये चरम व्याकुलता मात्र के द्वारा ही उन्होंने ईश्वर का दर्शन पाया था। यह दर्शाता है कि केवल व्याकुलता ही व्यक्ति को सर्वोच्च लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ है और यह किसी वस्तु पर निर्भर नहीं है। परन्तु साधारण लोगों के लिये लक्ष्य और लक्ष्य तक ले जानेवाले मार्ग के बारे में कुछ ज्ञान के साथ ही शुरुआत करना अधिक सुरक्षित है। अन्यथा व्यक्ति इधर-उधर

भटक सकता है। यदि मैं टोकियो टावर की स्थिति को जाने बिना ही वहाँ पहुँचने के लिये, यहाँ से चलना शुरू कर दूँ, तो शायद मैं इधर-उधर भटकता रहूँगा और शायद मैं अन्त में वहाँ पहुँच भी जाऊँ। परन्तु यदि मैं उसके मार्ग के बारे में जानकारी रखता हूँ, तो स्वभाविक रूप से मैं वहाँ शीघ्र तथा कम कठिनाई से और शक्ति की बर्बादी किये बिना ही पहुँच जाऊँगा। यदि मुझे रास्ता ज्ञात नहीं है, परन्तु मुझमें धैर्य, लगन और व्याकुलता है, तो मैं लक्ष्य तक पहुँच जाऊँगा। भक्ति के आचार्य द्वारा इसी बात पर जोर दिया गया है कि चरम लक्ष्य तक पहुँचने के लिये केवल व्याकुलता ही पर्याप्त होगी; यदि किसी व्यक्ति में यह निष्ठापूर्ण लगन है, तो उसे अपने आप ही लक्ष्य की प्राप्ति होगी।

ये शिक्षायें परस्पर-विरोधी प्रतीत हो सकती हैं, परन्तु यदि हम उस पृष्ठभूमि को समझने का प्रयत्न करें जिनमें वे शिक्षायें दी गई हैं, तो विभिन्न मार्गों की उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है। भक्तिमार्ग के लिये ज्ञान अपेक्षित है, कर्म अपेक्षित है और योग भी अपेक्षित है। ये इसलिये उपयोगी हैं, क्योंकि ये बिना अधिक भटके ही और यथाशीघ्र हमें अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सहायता करते हैं। इसीलिये ये आवश्यक हैं। इसके साथ ही नारद का यह कहना भी सत्य है कि निष्ठा और भक्ति अपने आप ही हमें लक्ष्य तक पहुँचा सकते हैं। नारद का निष्कर्ष यह है कि मुमुक्षु को केवल भक्ति की ही साधना करनी है। भक्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है। यदि किसी के पास यह भक्ति है, तो उसे लक्ष्यभ्रष्ट होने का कोई भय नहीं है। वह निश्चय ही लक्ष्य तक पहुँच जायेगा। यही बात नारद पूरा जोर देकर कहते हैं।

यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि नारद इसलिये भक्ति पर जोर देते हैं, क्योंकि वे भक्तिमार्ग के सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं। इसीलिये वे कहते हैं कि केवल भक्ति से ही मोक्ष मिल सकता है। और ज्ञान से? भक्तिमार्ग के व्याख्याता, ये आचार्य अन्य मार्गों के बारे में नहीं सोचते। उनके लिये ज्ञान निष्फल और शुष्क चर्चा मात्र है। ज्ञान-मार्ग, विवेक-विचार-मार्ग व्यक्ति को केवल बौद्धिक चिन्तन-मनन तक ले जा सकता है और वहीं उसका अवसान हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह व्यक्ति ब्रह्म बन जायेगा। कोई व्यक्ति विद्वत्ता द्वारा ब्रह्म के बारे में जान सकता है। किन्तु विद्वत्ता द्वारा वह ब्रह्म नहीं बन सकता। संसार में वेदान्त के अनेक विद्वान् हैं – पर क्या वे सभी ब्रह्मानुभूति प्राप्त कर चुके हैं?

श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "सिर्फ पाण्डित्य से क्या लाभ, अगर व्यक्ति में विवेक और वैराग्य न हों? ... उन पण्डितों को जिनमें विवेक, वैराग्य और ईश्वर-प्रेम नहीं हैं, मैं घास-फूस की तरह देखता हूँ।"[१] उनका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति चाहे कितना ही बड़ा विद्वान् क्यों न हो, यदि उसमें अन्य सद्गुण नहीं हैं, तो वह जरा-सा भी कुछ नहीं है।

अत: ज्ञान अपने आप में सम्पूर्ण नहीं है, वैसे ज्ञानयोग के आचार्य कहेंगे कि अन्तोगत्वा ज्ञान ही बन्धन या अज्ञान से मुक्ति प्रदान करेगा। अज्ञान को दूर करने की औषधि क्या है? – ज्ञान। अत: यदि हमारे पास ज्ञान नहीं है, तो हमारा अज्ञान कभी नहीं जा सकता है। इसके उत्तर में भक्त मुस्कुरा कर कहता है – "यदि मेरे पास भक्ति है, तो ईश्वर मुझे सब कुछ प्रदान कर सकते हैं। क्या वे ईश्वर हमें सच्चा ज्ञान नहीं दे सकते? क्या मुझे आपकी विचार और विवेक की प्रक्रिया का अनुसरण करना होगा? मेरे ईश्वर सर्व-शक्तिमान हैं, वे मुझे सब कुछ प्रदान कर सकते हैं।"

अत: भक्ति अपने आप में परिपूर्ण है। भक्त यह नहीं सोचता कि भक्ति मात्र ही उसे लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकती। उसमें दृढ़ श्रद्धा होती है। परन्तु ज्ञानमार्गी व्यक्ति कहेगा – "तुम मूर्ख हो। तुम नहीं जानते कि ईश्वर क्या है, इसके बावजूद तुम कहते हो कि ईश्वर तुम्हें मोक्ष प्रदान करेंगे।" इसी प्रकार उनके मतभेद चलते रहते हैं और आज तक ये मतभेद हल नहीं हो सके हैं। ये मतभेद विभिन्न स्वाभाविक प्रवृत्तियों और मानसिक रुझानों के कारण हैं।

इस प्रकार, उन लोगों के विचारों में भिन्नता हो सकती है, परन्तु हम समझ सकते हैं कि इन मार्गों में से किसी एक का भी व्यावहारिक आचरण हमें उच्चतम लक्ष्य की ओर ले जाने में सक्षम है। श्रीरामकृष्ण ने यही बात बारम्बार कही है, यद्यपि भक्तों से बातें करते समय वे भक्ति पर पूरा जोर देते थे और ज्ञानमार्गी लोगों को उपदेश देते समय वे ज्ञान-मार्ग पर पूरा जोर देते थे। वे सब कुछ थे – एक भक्त, एक महान् ज्ञानी और एक महान् कर्मयोगी भी। उनके जीवन में हम देखते हैं कि इनमें से प्रत्येक मार्ग हमें परम लक्ष्य तक पहुँचा सकता है।

❖ (क्रमश:) ❖

१. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, द्वितीय भाग, सं. १९९९, पृ. १०६७

ईशावास्योपनिषद् (१३)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

साधकों को यह बात ध्यान में रखना है कि परमात्मा को प्राप्त करने की यात्रा आत्मा की खोज से प्रारम्भ होती है। हमारी यात्रा आत्मा के संधान से प्रारम्भ होगी और वह परमात्मा तक पहुँच जायेगी। इस यात्रा की पूर्णता परमात्मा में है। यदि हम अपनी यात्रा आत्मा से प्रारम्भ करेंगे, तो हम परमात्मा तक पहुँच जायेंगे। जो परमात्मा विश्वब्रह्माण्ड में व्याप्त है, जो स्थिर रहकर भी गतिशील है, जो दूर भी है और समीप भी है, वही परमात्मा मेरे भीतर भी है। इस प्रकार की धारणा से परमात्मा-प्राप्ति की यात्रा हमारे जीवन में सुगम हो जायेगी। परमात्मा के साक्षात्कार की यात्रा अत:करण में प्रवेश करने के प्रयत्न से प्रारम्भ होती है। वही परमात्मा हमारे अन्त:करण में विराजमान हैं। हम लोग सगुण-साकार रूप में उनकी उपासना करते हैं। जो भी हमारे इष्ट हों, उन सबका आधार हमारा अन्त:करण है। इस हृदय में ही हम उनकी कल्पना करते हैं। पर जब तक हमें हमारी आत्मा का साक्षात्कार नहीं होगा, तब तक उस विराट परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार सम्भव नहीं है। इसलिये पहले आत्म-साक्षात्कार का प्रयत्न करना होगा और जब जीवन में आत्म-साक्षात्कार होगा, तब वह अपने ही अन्त:करण में होगा। तब हमारे सभी प्रश्नों, संशयों का अपने आप ही समाधान हो जायेगा, क्योंकि सभी प्रश्नों का अन्तिम उत्तर परमात्मा है।

सत्यस्वरूप परमात्मा जो पूर्ण है, त्रिकाल-सत्य है, अपरिवर्तनशील और शाश्वत है, ऐसे परमात्मा की उपलब्धि से क्या लाभ होगा? ऐसे परमात्मा को प्राप्त महापुरुषों के क्या लक्षण हैं? इसी को छठवें और सातवें मन्त्र में ऋषि हमको बता रहे हैं –

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।६।।
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।७।।

– जो सभी प्राणियों को परमात्मा में और परमात्मा को सभी प्राणियों में देखता है, वह किसी से भी घृणा नहीं करता है ।।६।। जब साधक इस सिद्धि की अवस्था में पहुँचकर अनुभव करता है कि सर्वत्र, सभी प्राणियों में एक परमात्मा, ईश्वर ही विद्यमान है, तब वह शोक-मोह नहीं करता है ।।७।।

इन दो मन्त्रों में जो फलश्रुति बतायी गयी है, वह हमारे जीवन के लिये बहुत ही उपयोगी है। वह हमारी चेतना में आमूल परिवर्तन कर सकती है। हमें इस पर चिन्तन करना होगा, इसका निदिध्यासन करना होगा। ऋषि कहते हैं – यस्तु – जो साधक। सर्वाणि भूतानि अर्थात् सभी प्राणियों में। कुछ लोगों का यह विचार है कि मनुष्य के अतिरिक्त जो प्राणी, पशु-पक्षी हैं, उनमें आत्मा नहीं है, वह हमारे खाने के लिये बने हैं। इसलिये पशु-पक्षिओं को मारकर उनका माँस खाकर आनन्द से रहो। किन्तु हिन्दू धर्म की यह विशेषता है कि उसने आपने आप को मनुष्य तक ही सीमित नहीं रखा है। भूत किसे कहते हैं? हिन्दू-शास्त्र कहता है, जो जीवित है, जिसका अस्तित्व है, उसे भूत, प्राणी कहते हैं। जितने चर और अचर प्राणी हैं, उन सभी प्राणियों में, सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड में, जहाँ तक हमारा मन, बुद्धि जाती है, वहाँ तक जो भी चर-अचर प्राणी हैं, उन सबको जो साधक आत्मनि एव – परमात्मा में, अनुपश्यति – देखता है। वही परमात्मा हमारे हृदय में है। इसीलिये वह सबको अपनी ही आत्मा के समान देखता है, उनके साथ अपनत्व का, निकटत्व का, एकत्व का बोध करता है, वह यह अनुभव करता है कि मेरी ही आत्मा इस समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। अत: वह सबके साथ परम एकता का, परम प्रेम का बोध करता है।

जैसे किसी पुराने महल में आप जायेंगे और देखेंगे कि उस कमरे में चारों तरफ आइने लगे हुये हैं, तो आप जहाँ भी, जिधर भी देखेंगे, चारों ओर आपका ही रूप दिखाई देगा। उसी प्रकार जो व्यक्ति आत्मज्ञानी है, उसे प्रत्येक प्राणी में अपनी ही आत्मा का दर्शन होता है। उसे आत्मा से भिन्न अन्य किसी तत्त्व का अस्तित्व ही बोध नहीं होता। उसे एकता का अनुभव होता है। वह अपनी आत्मा को सभी प्राणियों में तथा सभी प्राणियों को अपनी आत्मा में देखने लगता है। वह केवल अपनी चर्मचक्षु से देखता है, ऐसा नहीं है, बल्कि वह अपने हृदय में उसका अनुभव करता है। वह सर्वभूतेषु – सभी प्राणियों में, आत्मानं – परमात्मा को देखता है। सब में वही ईश्वर विराजमान है, इसका अनुभव करता है। जब वह ऐसा अनुभव करता है, तब क्या होता है? ततो न विजुगुप्सते – तब उसके हृदय में घृणा नहीं रहती। उसका हृदय प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है। जीवन में प्रेम का सबसे बड़ा कोई शत्रु है तो वह है घृणा। घृणा कब होती है? जब हम किसी दूसरे को अपने से भिन्न देखते हैं,

तब घृणा होती है? हृदय में प्रेम और घृणा साथ-साथ नहीं रह सकते। इसलिये ऋषि कहते हैं कि मैंने प्रथम मन्त्र में जो कुछ तुम्हें बताया है, यदि तुम उसकी साधना करोगे, तो तुम किसी से ईर्ष्या-द्वेष-घृणा नहीं करोगे। तब तुम्हें सर्वत्र ईश्वर ही दिखाई देगा। तुम सर्वत्र अपने को ही देखोगे।

क्रोध, लोभ, घृणा ये सब किसी को सिखाना नहीं पड़ता। इनमें घृणा सबसे अधिक विषाक्त है। यह स्वयं के जीवन को भी कलुषित कर देती है और दूसरों के जीवन में दु:ख देती है। आपको मालूम है कि जब दूसरा महायुद्ध हुआ था, तब उसका प्रारम्भ हिटलर ने किया था। ऐसा कहा जाता है कि हिटलर ने गैस-चेम्बर में साठ लाख लोगों को मार दिया। अपने जर्मन-नागरिकों को सुरक्षित रखने के लिये, उसने कितने यहूदी लोगों को मार दिया। महायुद्ध के पश्चात् बहुत शोध हुआ और मनोवैज्ञानिकों ने हिटलर की क्रुरता का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया कि वह इतना क्रूर कैसे हो गया? उन्होंने शोध में पाया कि इसका कारण उसके मन में बसे यहूदियों के प्रति घृणा थी। वह सोचता था – हम जर्मन के लोग हैं और ये यहूदी हैं, इनसे घृणा करो और इनको मार दो। वहाँ छोटे बच्चे और युवक इन सबके मन में घृणा का भाव भर दिया गया था कि ये यहूदी पशु के समान हैं। इनको मारो इससे पुण्य मिलेगा। इस घृणा के कारण युद्ध और विनाश हुआ। हम आजादी के साठ साल बाद भी आज उसे याद करते हैं। किन्तु जिन लोगों को हमारे देश-विभाजन के कारण अपना देश, घर सब छोड़ देना पड़ा, उनको कितना कष्ट हुआ। यह क्यों हुआ? मुसलमान और हिन्दू दोनों ही मनुष्य हैं, किन्तु घृणा के कारण पशु बन गये। विकृत मस्तिष्क वाले लोगों ने इन दोनों जातियों में घृणा उत्पन्न कर दी। यह सब पशुता है और ये सब घृणा से आता है। हम जिससे घृणा करते हैं, उस व्यक्ति का क्या होगा यह सोचने के पहले हमारा हृदय अपवित्र हो जाता है, इसलिये ऋषि कहते हैं, किसी से घृणा मत करो – ततो न विजुगुप्सते।

आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् व्यक्ति के मन में किसी के प्रति घृणा नहीं रहेगी। क्योंकि घृणा हमारा स्वभाव नहीं है। यह बाहर से हमारे भीतर आया है। हमारा स्वभाव प्रेम है। हृदय से घृणा के हटने पर प्रेम स्वयं प्रगट हो जायेगा। क्यों हमारे हृदय में प्रेम की धारा नहीं बह रही है? इसका उत्तर यह है कि कहीं-न-कहीं वस्तु के प्रति, व्यक्ति के प्रति, घटनाओं के प्रति, विचार धाराओं के प्रति हमारे मन में घृणा अवश्य है। जितनी मात्रा में घृणा है, हमारे आध्यात्मिक जीवन में उससे भी अधिक मात्रा में बाधा आ जायेगी। जितनी मात्रा में घृणा कम होगी, उतनी मात्रा में हृदय में प्रेम प्रस्फुटित होगा, उतनी मात्रा में मनुष्य आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ेगा। इसलिये प्रेम ही ईश्वर है – 'Love is God'। हमारे हृदय में घृणा रूपी काई ने अमृतरूपी प्रेम को ढक दिया है। इसलिये उपनिषद कहता है कि जब तुम सभी प्राणियों में अपने को और सभी प्राणियों को अपने में देखने लगोगे तो तुम्हारे हृदय से घृणा चली जायेगी।

घृणा कैसे होती है? भगवान आदि-शंकराचार्य जी बड़ी सुन्दर परिभाषा देते हैं – सर्वा हि घृणा आत्मन: अन्यत् दुष्टं पश्यत: भवति – सभी प्रकार की घृणा अपने से भिन्न, अलग अशुभ, अशुद्ध, को देखकर होती है। कितनी प्रकार की घृणा हमारे मन में होती है। विष्ठा को हमने अपने से बाहर देखा और उसके प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी। मांस का टुकड़ा हमने देखा तो हमारे मन में घृणा उत्पन्न हो गयी। ऐसी अनेकों प्रकार की घृणायें हैं, जो साधक के मन को विचलित कर देती हैं। साधक और साधिकाओं को यह सोचना चाहिये कि क्या हमारे मन में किसी के प्रति घृणा है? यदि है, तो हमें स्वयं की दुर्बलताओं को जानना चाहिये तथा इस कुदृष्टि से बचने का प्रयास करना

परा-पूजा

अजब हैरान हूँ भगवन्
तुम्हें कैसे रिझाऊँ मैं !
कहीं ऐसा न कुछ दिखता
जिसे सेवा में लाऊँ मैं !!

लगाना भोग कुछ तुमको
बहुत ये बात बचकानी,
खिलाता जो सकल जग को
उसे कैसे खिलाऊँ मैं !!

तुम्हारी ज्योति से रौशन
ये सूरज, चन्द्रमा तारे,
महा अंधेर है, तुमको
अगर दीपक दिखाऊँ मैं !!

भुजा है और ना सीना
न गरदन है न पेशानी,
बिना आकार नारायण
कहाँ चन्दन लगाऊँ मैं !!

तुम्हीं हो मूर्ति-प्रतिमा में
तुम्हीं हो व्याप्त फूलों में,
भला भगवान पर भगवान
को कैसे चढ़ाऊँ मैं !!

(प्रबुद्ध जीवन से)

चाहिये। घृणा से ईर्ष्या, ईर्ष्या से शत्रुता, शत्रुता से हिंसा और हिंसा से विनाश हो जाता है। घृणा से विनाश का यह क्रम है।

इस घृणा को अपने हृदय से कैसे निकालें? हमारी इन्हीं सब दुर्बलताओं को दूर करने का मार्ग दिखाने के लिये भगवान श्रीरामकृष्ण देव का अवतार हुआ था। श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं कि घृणा तो तुम्हारे मन में है। यदि वह नहीं जाती है, तो उसका मोड़ घुमा दो। अब यहाँ थोड़ा विचित्र-सा लगता है कि घृणा तो हमारे जीवन को विषाक्त कर रही है, फिर उसका मोड़ घुमाने से, उससे आध्यात्मिक लाभ कैसे होगा? हमारे आध्यात्मिक जीवन में सबसे अधिक बाधा 'देहासक्ति' है। इस देह के प्रति जो आसक्ति है, इसी ने हमें बाँधकर रखा है। हम उस शाश्वत आत्मा को भूलकर इस देह को ही आत्मा समझ बैठे हैं। अब हम इस देह की आसक्ति से कैसे छूटें? भगवान श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि जब इस देह को सजा-धजाकर आइने के सामने खड़े होते हो, तो अपनी देह को देखकर मुग्ध हो जाते हो। किन्तु उसी आइने के सामने खड़े होकर एक काँटा लेकर गाल के ऊपर चुभा दो, थोड़ा-सा रक्त निकल जाने दो, जख्म होने दो, तब देखो कैसा लगता है। अगर हमारी ही ये चरबी या माँस का टुकड़ा प्लेट में सजाकर सामने रख दिया जाय, तो क्या होगा? हमें प्रेम होगा या घृणा होगी? हमें अपने शरीर के उस रूप को देखकर घृणा होगी और मन कहेगा, अरे इस शरीर में ये रक्त, माँस, मल-मूत्र, हड्डियाँ ही हैं। इस प्रकार विचार करने से शरीर तो रहेगा, किन्तु उसके प्रति आसक्ति नहीं रहेगी। बुद्ध-धर्म की साधना की एक पद्धति है। उसमें कहा है कि मृत-व्यक्ति को देखो और सोचो कि वह इतना सुन्दर शरीर है, किन्तु उसे जला दिया जा रहा है। विचार करो कि जिस देह को हम प्यार करते थे, वह जला दी जाती है, तो देह के प्रति आसक्ति कम हो जायेगी। भगवान रामकृष्ण देव कहते हैं कि मिठाई या सन्देश पन्द्रह-बीस दिन ऐसे ही पड़े रहने पर सड़कर दुर्गन्ध देने लगता है। तब हम विचार करें कि हम इस घृणा का सदुपयोग कैसे करें? हम अपने मन को कहें कि छी! छी! तुम दिन-रात शरीर को इतना सजाते रहते हो, यह अच्छा नहीं है ! जितना आवश्यक है उतना ही शरीर की ओर ध्यान दो ! इस प्रकार के विचार से हमारी कितनी झंझटें कम हो जायेंगी, कितना पैसा बच जायेगा। दूसरों की निन्दा एवं घृणा करना छोड़कर उसके स्थान पर सत्संग करें। क्योंकि दूसरों की निन्दा-घृणा करना, झूठ बोलना पाप है। जब दूसरा कोई झूठ बोलता है, निन्दा करता है, तब हम उसके प्रति घृणा करते हैं। थोड़ा विचार करें कि यदि मैं भी वही कर रहा हूँ, तो मुझे भी वही पाप लगेगा और लोग मुझसे भी घृणा करेंगे। अतः मुझे ऐसा नहीं करना चाहिये। इस प्रकार यदि झूठ के प्रति, परनिन्दा के प्रति हमारे मन में घृणा उत्पन्न हो जाय, तो अपने-आप क्रोध छूटने लगेगा और हमारा चित्त शुद्ध और शान्त होने लगेगा। दूर्वासा जैसे ऋषि भी क्रोध के कारण बदनाम हो गये थे। अतः हमें विचारकर क्रोध से, आलस से, प्रमाद आदि से जो साधक-जीवन के महान शत्रु हैं, इनसे घृणा करनी चाहिये। यदि हम साधना में सावधान हो जायेंगे, तो यह आलस्य छूट जायेगा। इस प्रकार यदि हम अपने हृदय में स्थित काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर इनके प्रति घृणा उत्पन्न करेंगे, तो इन षड्रिपुओं को छोड़ना हमारे लिये आसान हो जायेगा। जिसमें हमारी बहुत आसक्ति है, हम उसे ढूँढ़कर निकालें और उसे दूर करने का प्रयास करें। घृणा को विचार कर दूर करने का यह एक पक्ष है।

दूसरा पक्ष है कि कैसे मोड़ घुमाई हुई घृणा हमारी आध्यात्मिक प्रगति में सहायक होगी। जैसे अफीम विष है। इसके सेवन से व्यक्ति मर जाता है। किन्तु वही अफीम औषधि रूप में सेवन करने पर प्राण की रक्षा करती है। औषधि के रूप में वह लाभप्रद हो जाती है। अब घृणा तो हमने निकाल दी। किन्तु जब हम क्रोध से घृणा करेंगे तब अक्रोध से प्रेम करना पड़ेगा। लोभ से घृणा की तो अपरिग्रह से प्रेम करना पड़ेगा। प्रेम को भी पुष्ट करना पड़ेगा। प्रेम निषेध का मार्ग नहीं है। घृणा निषेध का मार्ग है। जीवन में साधना की पूर्ति विधि और निषेध इन दोनों मार्गों से होती है। निषेध के द्वारा घृणा को निकालना और विधि के द्वारा प्रेम को प्रतिष्ठित करना होता है। कब किसी के प्रति जीवन में कभी भी घृणा नहीं होगी? आत्मनि एव अनुपश्यति – जब हम दूसरों को अपने आत्मरूप में देखेंगे, तब घृणा निर्मूल होगी। घृणा का सदुपयोग करके हम जीवन को आनन्दमय बना सकते हैं। उसे प्रेम से परिपूर्ण कर सकते हैं। प्रेम से हृदय को परिपूर्ण करने का विधेयात्मक उपाय है। वह क्या है? वह है – सब में अपनी आत्मा का दर्शन करना। क्योंकि घृणा आत्मा का स्पर्श नहीं कर सकती। निरन्तर अपने आत्मस्वरूप में स्थित रहने वाले पुरुष को सर्वत्र आत्मदर्शन करने के कारण उनके अन्तर में घृणा का कहीं कोई स्थान नहीं रहता है – आत्मानं एवं अत्यंतम् विशुद्धम् निरंतरम् पश्यतः न घृणा निमित्तम्। यदि हम अपने हृदय में झाँकें और अपने चित के दोषों से घृणा करना प्रारम्भ करें, तो हमारे हृदय में गुणों का अपने आप विकास होने लगेगा और हम प्रेम से भर जायेंगे।

❖ (क्रमशः) ❖

आत्माराम की आत्मकथा (४२)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसकी पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

सक्कर का साधुबेला मठ

सिन्ध के सक्कर में साधुबेला नाम का उदासी सम्प्रदाय का सबसे बड़ा मठ है। उसी में चार-पाँच दिन ठहरा था। साधुबेला मठ – सिन्धु नदी के बीच द्वीप के जैसा और दिखने में एक छोटे किले की तरह था। नाव से जाना पड़ता था। स्वामी हरिहरानन्द जी उस समय महन्त थे। ये उदासी सम्प्रदाय के एक बड़े नेता और सुधारक थे। इन्हीं की चेष्टा से अधिकांश उदासी लोगों ने सिर से जटा हटाकर मुण्डन कराया, काले वस्त्रों को छोड़कर गेरुआ वस्त्र धारण करना शुरू किया और नाम के साथ 'आनन्द' जोड़ने लगे। पहले नाम के साथ 'दास' जुड़ा रहता था।

तीसरे दिन रात के करीब दो बजे सहसा बुलावा आया – "जल्दी आइये, महन्तजी बुला रहे हैं। सब हाजिर हैं।" जाकर देखा सब साधु एक हॉल में बैठे थे और चार-पाँच विशिष्ट गृहस्थ भी थे। स्वयं महन्तजी चिन्तित दशा में बैठे थे। कुछ लोग जटाधारी भी थे। एक अच्छी डीलडौल वाले उदासी साधु कह रहे थे – "आज्ञा दीजिए, बस, अभी जाकर उनको सीधा करके आ जाता हूँ। वे पाँच जने भला क्या कर लेंगे?" मुझे भी बैठने को कहा। एक-एक कर प्रत्येक साधु का मत लिया गया।

अकाली दल के पाँच सिखों ने आज रात आकर सक्कर के आश्रम पर कब्जा कर लिया है। वहाँ के महन्त को भगा दिया है, प्रश्न था कि अब क्या किया जाय। सबका एक ही मत था – उनको इसी क्षण बलपूर्वक भगा देना। जैसे आये थे, वैसे ही चले जायँ, विलम्ब होने से झगड़ा बढ़ेगा। मुझसे भी वही प्रश्न करने पर पहले तो मैं मुश्किल में पड़ा – एक तो सम्प्रदाय का सदस्य नहीं और फिर आगन्तुक हूँ – क्या कहूँ? सबने कहा – "एक साधु की दृष्टि से बोलिए।"

पहले तो मैंने उनसे कुछ बातें पूछीं, मैंने कहा कि इन्हें जाने बिना मेरे लिए अपना मत व्यक्त करना कठिन है – "अकाली दल के लोगों ने सहसा इतनी दूर सिन्ध में आकर इस प्रकार कब्जा क्यों किया। इसके पीछे क्या कोई घटना है।" दीवाल के पास बैठे एक गृहस्थ ने उत्तर दिया – "सक्कर के दो दीवानों ने उन्हें सूचना दी और बुलवाकर यह कार्य करवाया है।" – "उन्होंने ऐसा क्यों किया? ऐसा क्या हुआ था कि वे विरुद्ध मतावलम्बी लोगों को बुला लाये।"

उत्तर मिला – "सक्कर के महन्त की चाल-चलन ठीक नहीं थी। उनको वेश्याओं के साथ यहाँ तक कि एक ही गाड़ी में घूमते-फिरते देखा गया था। मना करने पर भी उन्होंने किसी की बात नहीं मानी। इसी के फलस्वरूप ...।" मैं – "महन्तजी (स्वामी हरिहरानन्द) को यह बात बतायी नहीं गई थी क्या?" महन्तजी – "हाँ, मुझे बतलाया तो था और मैंने भी उसे दो-एक बार डाँटा था।"

मैं – "एक जिम्मेदार साधु होकर वे ऐसा आचरण करते थे, तो भी उन्हें उसी पद पर रखना क्या उचित हुआ था?"

महन्त – "दुष्ट बच्चे के साथ और क्या किया जा सकता है, बोलिये! धीरे-धीरे ...।"

मैं – "यह क्या? यदि और कुछ नहीं कर सकते थे, तो दुष्ट बच्चे को वहाँ से हटाकर यहाँ अपने पास रखा जा सकता था। इतना भी करने में आपको संकोच होना मेरे लिये एक आश्चर्य की बात है! यदि किसी पुत्र के द्वारा कोई ऐसा काम हो रहा हो, जिसके कारण घोर अनिष्ट या कुल की बदनामी की आशंका हो, तो पिता ऐसे दुष्ट पुत्र को त्याग देते या घर से निकाल देते हैं। मुझे तो लग रहा है कि दोनों दीवानों को ऐसा करने के पीछे समुचित कारण है और मुझे क्षमा करेंगे, वह कारण है आपका ऐसा आचरण। एक साधु दुश्चरित्र होकर वेश्या के साथ बाजार में घूमता है और उसे आपने उस मठ का धर्माधिकारी बना रखा है! महाराज, मैं नहीं समझ रहा हूँ कि यह आपका कैसा निर्णय है! अस्तु, अब उस बात को लेकर समय बरबाद करने से कोई लाभ नहीं। मेरा मत है कि दोनों दीवानों ने बड़ी भूल की है। वे लोग अकाली दल के लोगों को न बुलवाकर स्वयं ही उन महन्त को अच्छी तरह पीटकर आश्रम से निकाल सकते थे। उसके बाद समुचित निर्णय किया जाता और वह घर की बात होती। परन्तु जो हुआ है, यह तो विशाल रूप ले सकता है और यदि सोच-विचार कर न चला जाय, तो इस किले पर भी कब्जा हो सकता है। ये लोग जो अभी कह रहे थे कि बलपूर्वक उनको भगा देंगे, वे यह नहीं सोच रहे हैं कि उन्हें भगाने जाते ही कृपाणधारी अकालियों के साथ संघर्ष होगा और दोनों तरफ के लोग हताहत हो सकते हैं, इसके

फलस्वरूप पुलिस केस होगा, फिर और भी अकालियों का जत्था आयेगा, तब ये लोग क्या करेंगे? अब सारा उत्तरदायित्व महन्तजी के ऊपर आयेगा और भगवान न करें, परन्तु हो सकता है महन्तजी को जेल में रहना पड़े। ... इसीलिए मारपीट न करके, जिन दो दीवानों द्वारा ऐसा हुआ है, उन्हीं के द्वारा उन लोगों को समझा-बुझाकर राहखर्च और कुछ पैसे देकर उन्हें विदा कराने की चेष्टा कीजिये। मुझे तो यही उचित प्रतीत होता है और मैं दूसरों से भी इस बात पर चर्चा करने को तैयार हूँ, सब हाजिर हैं क्या?''

उत्तर मिला – ''एक – प्रोफेसर वासवानी को छोड़कर बाकी सब हाजिर हैं।'' मैं – ''अभी तार देकर उन्हें बुलवाइये। उनके आने पर मैजिस्ट्रेट की सहायता मिलने में आसानी होगी। मेरा तो यही विचार है कि हुल्लड़-हंगामे में न पड़ना ही उचित रहेगा।''

महन्तजी और अन्य सब ट्रस्टियों को वह बात पसन्द आई, परन्तु उन जटाधारी गज्जिका देवी (गाँजा) के उपासकों को वह बात एकदम पसन्द नहीं आयी। उनका भाव था – ''यह क्या? हम तो सदा अपनी ही रीति से काम लेना पसन्द करते हैं। दो-चार डण्डे लगाकर, मारकर भगा देंगे, बस!''

मेरा टिकट हो चुका था, इसलिये वहाँ और ठहरना नहीं हुआ। रास्ते में एक दिन हैदराबाद में ठहरकर कराची गया। कराची में समाचार मिला – प्रोफेसर वासवानी ने जाकर उसी प्रकार दीवानों की सहायता से समुचित धन आदि देकर उन पाँच अकालियों को विदा किया था।

हैदराबाद (सिंध) और कराची में

हैदराबाद में जाकर श्री कटूमल के बगीचे में ठहरा था। भक्त कटूमल ने अपने बगीचे में साधुओं के लिए छोटी-छोटी कुटियाँ बनवा रखी थी और दोनों समय भिक्षा की भी व्यवस्था की थी। अनेक साधु रहते थे। बाद में उन्होंने ऐसी व्यवस्था कर दी कि उस बगीचे की पूरी आय साधुओं की सेवा में ही व्यय हो। एक दिन ठहरकर सारी व्यवस्था देखने के बाद कराची गया। कराची में साधुबेला में एक माह और सेठ गुर्नामल हैदराबादवाले की न्यू बन्दर रोड एक्सटेंशन में स्थित नई कोठी में करीब बीस दिन रहा। उस समय निवृत्ति नाथजी वहीं थे। दोनों मिलकर सत्संग करते। वे दिन बड़े आनन्द में व्यतीत हुए थे।

यहाँ सेठ गुर्नामल के घर एक घटना हुई, जो संन्यासी-समाज को लज्जित करने योग्य है। एक दिन सेठ के लड़के ने कहा – ''एक विशिष्ट साधु आ रहे हैं, वे धर्म-प्रचार हेतु इंग्लैंड जा रहे हैं, आप शाम को उपस्थित रहियेगा।''

शाम को और भी कुछ लोग वहाँ आये। साथ में एक हिन्दीभाषी साधु थे। साधुजी मुझे देखते ही बोले – ''ॐ नमो नारायणाय स्वामीजी! आपने जो मेरा उपकार किया था, उसे मैं नहीं भूल सका हूँ। वैसी सहायता न मिलने पर शायद मैं प्राणों से हाथ धो बैठता।'' आदि आदि।

मैंने पहचाना। उन दिनों वे हैदराबाद में सेठ कटूमल के बगीचे के बगलवाले बगीचे में बीमार होकर पड़े थे। एक सिन्धी सज्जन ने मुझे यह बात कही और मुझे दिखाने ले गये। उस समय इन्होंने बगीचे के मालिक के विरुद्ध दो-चार बातें कही थीं कि दो दिन से भूखे हैं, कुछ दिया नहीं। मैं बोला – ''बगल में ही श्री कटूमल का बगीचा है, वहाँ सुन्दर व्यवस्था है, यदि आप चाहें तो उनसे कहकर आपके वहीं रहने की व्यवस्था करूँ। वे राजी नहीं हुए। यहीं रहेंगे और थोड़ा ठीक होने पर चले जायेंगे। कटूमल के साथ किसी बात पर कहासुनी हुई थी, अत: उनके बगीचे में नहीं जायेंगे!

– ''तो फिर अस्पताल तो जायेंगे न?''

– ''जी नहीं, यही मरना बल्कि उससे अच्छा है।''

तब मैंने माली को बुलाकर कहा – ''साधु दो दिन से बीमार हालत में बिना खाये पड़े हैं, तुम्हें देखना चाहिए था या मालिकों को सूचित कर देना उचित था।''

माली बोला – ''कोई मुझसे कुछ कहे, तो कर देता हूँ – नहीं तो और भला क्या कर सकता हूँ?''

अस्तु। उन सज्जन को एक रुपया देकर थोड़ा साबूदाना और मिश्री लाने को कहा और माली उसे पका देने को राजी हुआ। उन सज्जन ने स्वयं भी दूध के लिए एक रुपया दिया और फल भी ला दिये। मेरे पास उस समय केवल डेढ़ रुपये थे। अब केवल आठ आने बच गये। इसके बाद उन सज्जन को इनकी देखभाल करने के लिए कहकर मैं कराची चला गया था। उन्होंने औषध-पथ्य आदि देकर इनकी काफी सेवा की थी। साधु ने यह सब बताया और इसी प्रकार मेरा उनके साथ परिचय हुआ था।

इसके बाद वे धर्म-प्रचार की अपनी योजना बताने लगे – वे अंग्रेजों को हिन्दू भावापन्न करके ही छोड़ेंगे; आदि, आदि। इसके लिए चन्दा एकत्र करके उनके मार्ग-व्यय की व्यवस्था करनी होगी। उनका व्यक्तित्व तथा चाल-चलन देखकर ऐसा नहीं लगा कि जिस कार्य का बीड़ा उन्होंने उठाया है, उसका कण मात्र भी पूरा करने में वे सक्षम होंगे। उनकी बात खूब जमी हुई थी, तभी जिस बगीचे में वे रहते थे, वहाँ के मालिक आ पहुँचे। वे भी एक व्यवसायी थे। उनके आते ही साधुजी ने मुझसे कहा – ''ये ही उस बगीचे के मालिक हैं, जिन्होंने मुझे उस अवस्था में डाल रखा था।''

बगीचे के मालिक कहने लगे – ''आपको तो अनेकों बार बगीचा छोड़कर शहर आकर रहने को कहा था, परन्तु आप बिलकुल भी राजी नहीं हुए। आप इतने रुपये साथ लिये

जोखिम उठाकर निर्जन स्थान में थे। चारों ओर मुसलमानों की बस्ती है। यदि कुछ होता, तो उसके लिए कौन उत्तरदायी होता? आप तो मुझे ही संकट में डालने की चेष्टा में थे। पता चलने पर यदि माली ही कुछ कर डालता, तो ...?''

मैंने कहा – ''कहाँ? उनके पास तो कुछ भी नहीं था। आपकी ओर से कोई व्यवस्था न होने के कारण वे दो दिनों से भूखे पड़े थे।''

वे थोड़े विस्मित होकर बोले – ''क्या कहा, उनके पास कुछ नहीं था? महाराज, उनके सिर के तकिये के नीचे (हाथ हिला-हिलाकर) सात हजार रुपये नकद थे। कहते हैं कि कुछ नहीं था!''

– ''आपको कैसे मालूम हुआ।''

– ''मुझे पता था, इसीलिये तो उनसे बार-बार बगीचा छोड़ने को कहता था।''

– ''हें, हें, हें – कुछ भी नहीं था!''

मैं तो अवाक् रह गया। वे भी लज्जा से सिर नीचा किये बैठे थे और मैं भी बड़ा लज्जित था।

बगीचे के मालिक बोले – ''ये साधु धर्म-प्रचार करने इंग्लैंड जा रहे हैं। धर्म-प्रचार क्या मेरा सिर करेंगे! वे चाहे जो भी सोचें, मैं तो एक भी पैसा नहीं दूँगा।

यह कहकर वे उठ गये। मण्डली के बाकी सभी लोग चुप थे। मैं निरुपाय होकर बैठा था – जिसके सिर के तकिये के नीचे सात हजार थे – वह दो दिन से बिना खाये रहा और मुझसे भी पैसे लिये! वे लोग विचार करने के लिये थोड़ी दूर चले गये। बाद में उन लोगों ने मुझे भी बुलाया और पूछा – ''इन्हें रुपये देना उचित है या नहीं?''

मैंने कहा – ''रुपये देने या न देने के विषय में तो मैं कुछ नहीं जानता, लेकिन मुझे नहीं लगता कि इनके द्वारा धर्म-प्रचार हो सकेगा।'' – यह कहकर मैं चला आया।

उन लोगों ने रुपये नहीं दिये। बाद में खबर मिली कि उन्होंने कुछ रुपये एकत्र करके इंग्लैंड की यात्रा की थी। .... मुझे लगता है कि वे दो दिनों से इसलिये भूखे रहे, ताकि माली को पता नहीं लगे कि उनके पास रुपये हैं। अर्थात् उसके मन में ऐसी धारणा होगी कि बाबाजी के पास कुछ भी नहीं है – एकदम फकीर हैं।

इन गुनार्मल के घर एक घटना और हुई थी। एक दिन हैदराबाद से एक वकील आये। उस रात भोजन के बाद अनेक विषयों पर चर्चा हुई, खूब हास्य-विनोद हुआ। सोने के लिये जाते समय कह गये – जितने दिन वहाँ रहेंगे, मुझे इसी तरह परेशान करते रहेंगे। अगले दिन सुबह चाय पी रहा था, तभी सहसा रौद्र-मूर्ति धारण किये आ पहुँचे। आते ही गरजने लगे – ''बंगाली सब चोर हैं, बदमाश हैं, धोखेबाज हैं – Rascals, Rogues, cheats ...और भी न जाने क्या-क्या!''

मैं तो अवाक् रह गया। दस-पन्द्रह मिनट तक उनकी गाली चलती रही। मगर उनके इस क्रोध का कोई कारण मेरी समझ में नहीं आया। उनके थोड़ा थक जाने के बाद मैंने पूछा – ''क्या मैं जान सकता हूँ, कि मुझसे क्या अपराध हुआ है?'' (ठीक तभी सेठ का २२-२३ साल का छोटा लड़का शोरगुल सुनकर वहाँ उपस्थित हुआ) – ''क्यों? नहीं जानते! बंगाल नेशनल बैंक फेल हो गया है – यह तार देखिये। मेरे पाँच हजार रुपये, सारी जमा-पूंजी चली गई – कितनी बार लाहिड़ी से मिलने कोलकाता गया, परन्तु महाशय कभी नहीं मिले। घर में रहते हुए भी कहलवा देता था – घर में नहीं हैं। पत्र लिख-लिखकर परेशान हो गया – किसी का उत्तर नहीं दिया। मेरी अब भी धारणा है कि ब्योमकेश आदमी अच्छा है, पर उसको लिखने से एक ही जवाब देता रहा – इस विषय में लाहिड़ी को लिखिये। अब बतलाइये इस आयु में मेरा यह क्या हाल हुआ!''

सेठ का लड़का – ''तो आप स्वामीजी को बुरा-भला क्यों सुना रहे हैं? उनके साथ बंगाल नेशनल बैंक या लाहिड़ी या ब्योमकेश का क्या सम्बन्ध है?''

– ''आँ, नहीं, वे बंगाली हैं, इसीलिए'' – बड़े लज्जित

पुरखों की थाती

जले तैलं खले गुह्यं पात्रे दानं मनागपि।
प्राज्ञे शास्त्रं स्वयं याति विस्तारं वस्तुशक्तितः ।।

– पानी में तेल, दुष्ट को गोपनीय जानकारी, सत्पात्र को दान और प्रज्ञावान् को शास्त्रज्ञान – यदि अल्प मात्रा में भी प्रदान की जाय, तो ये अपनी आन्तरिक शक्ति से स्वयं ही फैलती जाती हैं।

जल-बिन्दु-निपातेन क्रमशः पूर्यते घटः।
स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च ।।

– बूँद-बूँद करके जल गिरने से धीरे-धीरे घड़ा पूरा भर जाता है। सभी तरह की विद्याओं, धर्म तथा धन के संग्रह की भी यही प्रक्रिया है।

चन्दन-तरुषु भुजङ्गा, जलेषु
कमलानि, तत्र च ग्राहाः।
गुणघातिनश्च भोगे खला,
न च सुखान्यविघ्नानि ।।

– चन्दन के वृक्षों से सर्प लिपटे रहते हैं; कमलों से परिपूर्ण सरोवर में घड़ियाल भी निवास करते हैं; अत: भोगों के साथ ही उनका नाश करनेवाले भी पाये जाते हैं। निर्विघ्न सुख जैसा इस संसार में कुछ नहीं है।

होकर – "क्षमा करना स्वामीजी, परम शोक से मैं बोधशून्य हो गया था, इसीलिये क्या कहना था और क्या कह बैठा – मुझसे भूल हुई है" – यह कहकर मेरे पाँव पकड़ने आये। मैंने उन्हें पकड़कर बैठाया। सेठ के लड़के को खूब नाराज देखकर मैं बोला – "इन्हें बड़ा धक्का पहुँचा है न, इसीलिए जो बातें लाहिड़ी से कहनी थी, उन्हें मुझसे कह दिया।"

लड़का – "लेकिन आपका लाहिड़ी के साथ क्या सम्बन्ध है?" मैं बोला – "कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध है तो केवल इतना ही कि वह भी बंगाली है और मैं भी बंगाली हूँ। इनके ऐसा करने से मुझे एक बात का ज्ञान हुआ – जाति का यदि एक व्यक्ति भी कुछ बुरा या भला करता है, तो उसका प्रभाव उस जाति के प्रत्येक व्यक्ति पर होता है। उसके चरित्र का प्रतिबिम्ब सबके ऊपर कुछ-न-कुछ पड़ता है। जाति का अभिमान रखने पर, भले ही कोई परदेश में हो और अपने देश में हो तो उसे और भी अधिक सावधानी के साथ जीवन बिताना पड़ता है, व्यवहार करना पड़ता है। जिस व्यक्ति के कारण समग्र जाति के सिर पर कलंक की रेखा पड़ती है, उसे जीवित रहने का अधिकार नहीं है, उसके लिये मृत्युदण्ड की व्यवस्था करना उचित है। देश स्वाधीन होने से शायद वैसा ही होता। खैर, ये एक शिक्षित सज्जन हैं, इनका इतना कहना ठीक नहीं हुआ। इनको समझना चाहिए कि लाहिड़ी के कर्म के लिये समग्र जाति उत्तरदायी नहीं है। इन्होंने ही तो कहा कि ब्योमकेश के ऊपर श्रद्धा है, अभी भी है। बंगाल में अनेक अद्भुत महापुरुष भी हैं, जिन पर अनुचित आक्षेप करना महापाप है। एक सिन्धी के ठग होने से सब सिन्धी ठग नहीं हो जाते। कोई ऐसा कहे, तो अनुचित होगा।"

लड़का – "सचमुच ही, बड़े आश्चर्य की बात है ! आकर आपको ही ... ।"

वे बोले – "क्षमा कीजिए स्वामीजी, मुझसे बड़ा दोष हुआ है। मैं दु:ख के आवेग में अपना आपा खो बैठा और क्या कहते क्या कह डाला, कृपया क्षमा कीजिए।"

मैंने – "नहीं, नहीं, आपने ठीक ही किया है? आज आपने मुझे अपने समग्र देश के साथ अविच्छेद्य एकता का अनुभव कराया और बोध कराया कि I am responsible for every action of my own countrymen. (मैं अपनी देश-वासियों के प्रत्येक कार्य के लिये उत्तरदायी हूँ)। मैं वेदान्ती हूँ न, इसलिए यह अच्छी तरह अनुभव कर रहा हूँ।"

उसी दिन वे हैदराबाद लौट गये। घर का रसोइया बिहार प्रान्त का था। उस समय उस नये मकान में केवल दो लड़कों को छोड़ और कोई नहीं रहता था। वे सुबह नाश्ता करके दुकान पर चले जाते और रात के ग्यारह, साढ़े ग्यारह बजे तक वापस लौटते। अत: सुबह-सुबह केवल दस-पाँच मिनट के लिए ही मेरी उनसे भेंट होती। रसोइया बदमाशी करके ढाई-तीन बजे खाने को देता और सुबह का मट्ठा एक काँसे की कटोरी में रख देता, जो तब तक कड़वा हो जाता। संन्यासी के लिए शिकायत करना अनुचित है, अत: मैंने किसी से कुछ कहा नहीं और उन्होंने पूछा भी नहीं। पूछने पर सम्भव है कि मैं बता देता।

इसके बाद मेरे शरीर में क्रमश: एक प्रकार के फफोले निकलने लगे – केवल पीठ पर। उससे मछली के छिलके के समान छोटे-छोटे सफेद रंग के टुकड़े काफी मात्रा में झरने लगे। डॉक्टर को दिखाकर एक मरहम लगाने से सात-आठ दिनों में वे काफी कम हो गये। लग रहा था कि अब वहाँ और रहना ठीक नहीं है, परन्तु इस बात को कैसे कहूँ ! तभी सूचना मिली कि घर की महिलाएँ वहाँ रहने के लिये आ रही हैं और इससे मुझे सुविधा हो गई।

पुन: हैदराबाद (सिंध) में

हैदराबाद (सिंध) से कराची जाते समय मैंने सेठ कटूमल से वादा किया था कि वहाँ से लौटते समय कुछ दिन उनके बगीचे में रहकर जाऊँगा। अत: हैदराबाद लौटकर उन्हीं के बगीचे में ठहरा। कटूमल बड़े भक्त थे – अति विनयी, क्षमाशील, धीर-स्थिर – देखते ही श्रद्धा होती थी। ये वृद्ध सज्जन मानो प्राचीन ऋषियों की तरह दिखते थे। उनके मकान का द्वार हमेशा खुले रहते, जो भी साधु-सन्त आते, सबकी अन्न आदि देकर सेवा करते। कितने ही दुर्वासा जैसे लोग आकर कटु बातें कह जाते, पर इसके लिए उनके मन में कोई दु:ख या क्रोध अथवा शिकायत का भाव नहीं होता।

मेरे पहुँचते ही उन्होंने एक छोटी कुटिया खोल दी। मिट्टी का कमरा था और ऊपर फूस की छत या टीन का छप्पर। प्रतिदिन एक बार आकर मिल जाते। पूछते – कोई आवश्यकता या कोई असुविधा तो नहीं है और कभी-कभी सबके साथ कोई धर्म-विषयक चर्चा करते। मेरे साथ काफी प्रीति हो गई थी। गर्मी के कारण कुछ खा नहीं पा रहा था, नींद भी नहीं आ रही थी। ज्ञात होने पर मुझे तेल की मालिश करके स्नान करवाने के लिए एक नौकर रखा और खूब दही की व्यवस्था कर दी। मेरे "अब जाना चाहता हूँ" – कहते ही, वे बोल पड़ते – "थोड़ी-सी गर्मी सहन कर लीजिये, इसके बाद और कष्ट नहीं होगा, आप रहिए।" दिन में तीन बार दही की गाढ़ी लस्सी और रात को थोड़ा दही-भात, लेकिन बाद में तो वह भी हजम नहीं हो रहा था। पानी पी-पीकर पेट फूल रहा था। एक दिन नौकर ने बड़ी बाल्टी में कुँए से जल निकाल-निकाल कर पैंसठ बाल्टी पानी मेरे सिर पर डाला, तो भी देह गरम ही रही, ठण्डी नहीं हुई। दिन में तीन-चार बार खूब स्नान करने पर भी तृप्ति नहीं होती थी। मैंने कहा – "अब जाने दीजिये। यदि ईश्वर ने चाहा तो फिर आऊँगा।"

❖ (क्रमश:) ❖

अमेरिका प्रस्थान के बाद

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। तब वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास होकर पुन: खेतड़ी आये। मुंशी जगमोहन लाल ने उनके साथ मुम्बई जाकर उन्हें अमेरिका के लिये विदा किया। यात्रा के दौरान उन्होंने राजा को कई पत्र लिखे। उनके पूरे जीवन व कार्य में राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान रहा – क्रमश: इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

स्वामीजी के अमेरिका प्रस्थान के बाद

३१ मई १८९३ को स्वामीजी ने अपनी ऐतिहासिक अमेरिका यात्रा के लिये प्रस्थान किया। उसके उपरान्त खेतड़ी के दरबार तथा अन्य लोगों के बीच उस सन्दर्भ में हुए पत्र-व्यवहार को यहाँ प्रस्तुत करते हैं। जूनागढ़ के दीवान ने मुंशी जगमोहन लाल को पत्र लिख कर स्वामीजी के बारे में जानकारी पूछी थी और अमेरिका का उनका पता पूछा था। उत्तर में मुंशीजी ने खेतड़ी से लिखा –

मुंशीजी का जूनागढ़-दीवान को पत्र

सेवा में, दीवान साहब रावबहादुर हरिदासजी विहारीदासजी देसाई, नडियाद, बी.बी., एंड सी.आइ.

२० जून १८९३
खेतड़ी

प्रिय दीवानजी साहब,

श्री स्वामीजी के नाम आपके २५ मई के पत्र में आपकी शुभ कामनाओं के लिये धन्यवाद देने के बाद मुझे आपको सूचित करते हुए हर्ष हो रहा है कि श्री स्वामीजी ने पिछले माह की ३१ तारीख को पी. एंड ओ. कंपनी के 'पेनिंसुलर' जहाज पर मुम्बई से प्रस्थान किया। मुझे आशा है कि कोलम्बो, पेनांग तथा सिंगापुर में रुकते हुए आज २० तारीख (जून) को जहाज सुरक्षित रूप से हांगकांग पहुँच गया होगा और कुछ अन्य बन्दरगाहों पर रुकते हुए २६ जुलाई को वैंकुवर पहुँचेगा; इसलिये यदि आप उन्हें पत्र लिखने की सोच रहे हों, तो इस पते पर लिख सकते हैं – द्वारा मेसर्स थामस कुक एंड सन, क्लार्क स्ट्रीट, शिकागो; क्योंकि जब पूज्यपाद (स्वामीजी) चीन होते हुए वहाँ पहुँचेंगे, तभी इस समय भारत से भेजा हुआ पत्र यूरोप होते हुए शायद उसी समय वहाँ पहुँचेगा।

मुम्बई से लौटते समय नासिक, ओंकारजी, इन्दौर तथा उज्जैन होते हुए केवल चार दिनों पूर्व ही मैं यहाँ वापस पहुँचा हूँ। क्या आप मुझे उस विषय की जानकारी देंगे, जिस पर हमने बातें की थीं? ... आजकल यहाँ बहुत गर्मी पड़ रही है। वर्षा नहीं हो रही है। वहाँ भी क्या ऐसा ही है?

आशा है आप उत्तम स्वास्थ्य तथा मन की शान्ति का आनन्द ले रहे होंगे।

निष्ठापूर्वक आपका, मु. जगमोहन लाल[1]

दीवानजी का उत्तर

उपरोक्त पत्र के उत्तर में जूनागढ़ के दीवान साहब ने नडियाद से ३० जून को लिखा –

प्रिय मुंशीजी साहब,

आपके २० तारीख के कृपापूर्ण पत्र के लिये धन्यवाद। मुझे ज्ञात हुआ कि स्वामीजी विश्व का भ्रमण कर रहे हैं। आपकी सलाह के अनुसार मैं उन्हें शिकागो के पते पर पत्र लिख रहा हूँ।

हमारे यहाँ अच्छी वर्षा हुई है, बल्कि औसत से काफी अधिक हुई है। अब तक कुछ १८.१० ईंच वर्षा हो चुकी है। ... ...

आपका विश्वस्त, हरिदास विहारीदास[2]

चेन्नै से कृष्णामचारी का पत्र

इसी दौरान आलासिंगा पेरूमल के चचेरे भाई एम.सी. कृष्णामचारी द्वारा लिखा हुआ ३० जून '९३ का पत्र मुंशीजी को मिला, जिससे लगता है कि ये भी स्वामीजी को विदा करने आलासिंगा के साथ मुम्बई आकर मुंशीजी के अतिथि के रूप में ठहरे थे और वहाँ श्री कालीपद घोष स्वामीजी तथा अन्य लोगों से मिलने आते थे। पत्र इस प्रकार है –

प्रिय मुंशीजी,

इस समय मैं बड़े खेद के साथ बैठकर आपको यह पत्र लिख रहा हूँ, क्योंकि मुझे लगता है कि इस कर्तव्य का पालन मुझे काफी पहले ही कर लेना था। मैं स्वीकार करता हूँ कि अपने मुम्बई-प्रवास के दौरान मैं आपके तथा आपके श्री स्वामीजी के २५ मई के पत्र में आपके तथा आपके महाराजा के प्रति कृतज्ञता के ऋण से आबद्ध हो गया हूँ। आपके परम उदारतापूर्ण आतिथ्य के विषय में मेरी अपनी भावनाओं को मेरे कोई भी शब्द यथार्थ रूप से ज्ञापित करने में असमर्थ हैं।

---

१. खेतड़ी पेपर्स – १९९९ २. वही

तथापि, आप अपनी परम दयालुता तथा सरलता के लिये हमें अपनी कृतज्ञतापूर्ण भावनाओं को व्यक्त करने की अनुमति प्रदान करें। वह सामान्य बन्धन, जिसने हमारी आत्माओं को जोड़ रखा था, अब हमारे बीच नहीं है, तथापि मुझे विश्वास है कि आप सदा के लिये वैसा ही भाव बनाये रखेंगे। जिन महान् आत्मा के आशीर्वाद-तले हम यहाँ (चेन्नै) और मुम्बई में मिले, वे इस समय समृद्ध विदेशी नगरों की प्राणास्पद वायु में श्वांस ले रहे हैं। मैं पूज्य स्वामीजी के महान् तथा पवित्र मिशन (कार्य) में उनकी उज्ज्वल सफलता की कामना करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ और आप मेरी इस मानवीय दुर्बलता को क्षमा करेंगे। आप कृपया एक बार और मुझे क्षमा करें, क्योंकि क्षमा करना कोई गलती नहीं है। मेरी बात पर विश्वास कीजिये, **स्वामीजी का स्मरण किये बिना एक दिन, एक रात या एक घण्टा भी नहीं बीतता।** स्वामीजी से कोई समाचार मिलने पर कृपया हमें सूचित कीजियेगा।

महाराज को हमारा प्रणाम निवेदित कीजिये। मैं आप के महाराज का एक फोटो प्राप्त करना चाहता हूँ। ठेकेदारी का काम करनेवाले उन बंगाली सज्जन* ने, जो मुम्बई में हमारे पास आया करते थे, मुझे रामकृष्ण परमहंस के चित्र की प्रतियाँ भेजने का वादा किया था, परन्तु अब तक उनमें से एक भी प्राप्त नहीं हुईं। यदि हो सके तो मुझे उनके फोटो की कम-से-कम आधा दर्जन प्रतियाँ भेज दें, क्योंकि मैं इस विषय में बड़ा चिन्तित हूँ। यदि आप स्वामीजी को पत्र लिखें, तो उन्हें मेरा स्मरण दिलायें। आप, आपके परिवार के तथा (वहाँ के) सभी के लिये मैं एक आनन्दमय तथा समृद्ध जीवन की कामना करता हूँ।

आपका विश्वस्त, एम. सी. कृष्णामचारी

३९ केयर स्ट्रीट, ट्रिप्लीकेन, मद्रास

पुनश्च – मेरे चचेरे भाई आलासिंगा पेरुमल की शुभ-कामनाएँ स्वीकार करें।[३]

महेन्द्रनाथ दत्त के पत्र

स्वामीजी के छोटे भाई महेन्द्रनाथ दत्त द्वारा लिखित अगले पत्र से ज्ञात होता है कि ३१ मई को स्वामीजी ने अमेरिका के लिये प्रस्थान किया और उसी दिन महाराजा ने पत्र लिखकर स्वामीजी के परिवार के लोगों तथा वराहनगर के गुरुभाइयों को इस समाचार से अवगत करा दिया था –

सेवा में, — २ जून १८९३
खेतड़ी के महाराज — ७ रामतनु बोस लेन
राजपुताना — सिमला, कलकत्ता

मुझे महाराज का ३१ मई का पत्र तथा १०० रुपये के आधा सी. नोट प्राप्त हुआ। मैंने इस पत्र की बातें स्वामी रामकृष्णानन्दजी, अपनी माता तथा दादी को बता दी है। मेरी दादी ने कुमार का कुशल-मंगल पूछा है। स्वामी (रामकृष्णानन्द) इस समय मलेरिया, अजीर्ण आदि से कष्ट पा रहे हैं।

मेरी माता तथा दादी – दोनों ने मेरे भैया के विश्व-यात्रा के विषय में अपना अनुमोदन व्यक्त किया है। हम लोग सकुशल हैं।

आशा है कि महाराज का शरीर स्वस्थ तथा मन शान्तिमय होगा।

आपका परम आज्ञाकारी
महेन्द्र नाथ दत्त[४]

सेवा में, — १३ जून १८९३
खेतड़ी के महाराज — ७ रामतनु बोस लेन
राजपुताना — सिमला, कलकत्ता

मुझे महाराज का पत्र तथा साथ में १०० रु. का आधा सी. नोट प्राप्त हुआ। मेरी माँ तथा नानी – दोनों ने शिशु की अस्वस्थता तथा आरोग्य के विषय में सुनकर खेद तथा आनन्द व्यक्त किया।

स्वामी रामकृष्णानन्द की अस्वस्थता के दौरान मैंने उनकी सेवा तथा देखभाल की, परन्तु ठीक हो जाने के बावजूद अब उनका शरीर काफी दुर्बल है। मैंने स्वामी रा. तथा स्वामी शरत् चन्द्र से सुना कि मेरे भैया (स्वामी विवेकानन्द) बर्मा गये हैं। वहाँ से वे चीन आदि स्थानों को जायेंगे। स्वामी रा. एक पत्र लिखकर खेतड़ी भेज रहे हैं। हम सभी अब सकुशल हैं। मेरी माँ तथा नानी दोनों महाराज के परिवार के लिये "आशीष" भेज रही हैं।

आशा है महाराज तथा अन्य सभी स्वस्थ होंगे।

आपका परम आज्ञाकारी
महेन्द्र नाथ दत्त[५]

पुनश्च – मैं उत्तर पाने को व्यग्र हूँ। म.द.

स्वामी रामकृष्णानन्द जी के दो पत्र

कोलकाता
१३ जून १८९३

महाराज,

मेरी बीमारी के दौरान मेरे स्वास्थ्य के विषय में पूछताछ करने के लिये आपको अनेकश: धन्यवाद।

---

* सम्भवत: श्रीरामकृष्ण के भक्त श्री कालीपद घोष

३. खेतड़ी पेपर्स – १९९९

४. Swami Vivekananda : A Forgotten Chapter of His Life, Beni Shanker Sharma, 2nd Ed., 1982, P. 149; ५. Ibid, P. 151

महेन्द्रनाथ एक बड़ा अच्छा लड़का है और उसने पूरी लगन के साथ मेरी अच्छी सेवा की है।

यह देखकर मैं अत्यन्त आनन्दित हूँ कि महाराज स्वामी विवेकानन्द के परिवार के विषय में इतना अधिक रुचि लेते हैं। भारत से विदा लेने के पूर्व विवेकानन्दजी ने मुझे आपके विषय में बड़ी प्रशंसासूचक बातें लिखी थीं; और जब आपके समान सज्जन राजा इस परिवार की सहायता करने को सर्वदा चिन्तित रहते हैं, तो मुझे विश्वास है कि इनकी कठिनाइयाँ शीघ्र ही समाप्त हो जायेंगी।

यह जानकर बड़ा आनन्द हुआ कि आपका शिशु पुत्र स्वस्थ हो गया है।

महाराज के लिये आशीर्वाद तथा प्रार्थना सहित

आपका विश्वस्त
रामकृष्णानन्द
द्वारा वैकुण्ठनाथ सान्याल
गवर्नमेंट स्टेशनरी ऑफिस, कोलकाता

सेवा में, खेतड़ी के महाराज

पुनश्च – महेन्द्रनाथ को आपका १०० रुपये का आधा नोट प्राप्त हो गया है। वह अपनी माता, भाई तथा परिवार के अन्य लोगों के साथ सकुशल है।[६]

कोलकाता, ५ जुलाई १८९३

सेवा में,
महाराजा, खेतड़ी
महाराज,

काफी समय से मुझे महाराज की ओर से कोई पत्र नहीं मिला। मुझे यह जानकर प्रसन्नता होगी कि महाराज तथा कुमार कुशलतापूर्वक हैं। हमारे अति माननीय स्वामी विवेकानन्द के भारत से प्रस्थान करने के बाद से हमें उनके बारे में कोई समाचार नहीं मिला है। यदि महाराज को उनकी कोई सूचना मिली हो, तो कृपया हमें भी उससे तथा अपने विषय में अवगत करायें।

स्वामीजी के छोटे भाई महेन्द्रनाथ का कॉलेज खुल गया है और उसने बड़ा नियमित रूप से अपना अध्ययन आरम्भ कर दिया है, परन्तु कुछ दिनों पूर्व उससे भेंट हुई। मैंने पाया कि इतने अधिक देखभाल से वह थोड़ा संकुचित है।

इस वर्ष पिछले तथा इस महीने में बड़ी भारी वर्षा हुई है, जिससे लोगों को काफी असुविधा तथा क्षति हुई है।

कुमार का स्वास्थ्य कैसा है, आशा करता हूँ कि वे खूब मजे में होंगे।

यहाँ हम लोग सकुशल हैं और महाराज तथा प्रिय शिशु के अच्छे स्वास्थ्य की कामना करते हैं।

महाराज के लिये आशीर्वाद तथा प्रार्थना सहित

आपका विश्वस्त
रामकृष्णानन्द
द्वारा वैकुण्ठनाथ सान्याल
गवर्नमेंट स्टेशनरी ऑफिस, कोलकाता[७]

मुंशी जगमोहन लाल का पत्र

६ जुलाई १८९३

महोदय,

सर्वप्रथम तो आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि मैं आपको यह पत्र लिख रहा हूँ, परन्तु यह सूचित करते हुए मुझे हर्ष हो रहा है कि मैं खेतड़ी महाराज की सेवा में हूँ और उन्होंने मुझे विश्वासपूर्वक आपके समस्त मामले से मुझे अवगत कराया है। भविष्य में हम दोनों के बीच पत्र-व्यवहार होगा और किसी प्रकार की गलतफहमी को दूर करने के लिये मैं अपना यह पहला पत्र महाराज के द्वारा अनुमोदित करा कर भेज रहा हूँ।

महाराज की इच्छानुसार आपके पारिवारिक खर्चों को पूरा करने के लिये सौ रुपये का एक करेंसी नोट नं. वी/४५/६२७४३ का आधा हिस्सा मैं इस पत्र के साथ संलग्न कर रहा हूँ, और इसका प्राप्ति-संवाद पाने के बाद मुझे इसका दूसरा हिस्सा भेजने में प्रसन्नता होगी।

मुम्बई से प्रस्थान करने के बाद स्वामी विवेकानन्द शिकागो की सुखद यात्रा कर रहे हैं। महाराज को उनके दो पत्र मिले हैं – एक कोलम्बो से और दूसरा पेनांग से। दोनों ही पत्र 'पेनिन्सुला' जहाज से लिखे गये हैं।

यहाँ पर महाराज, कुमार तथा अन्य सभी लोग कुशल-मंगल से हैं।

शुभ कामनाओं सहित

आपका विश्वस्त
जगमोहन लाल[८]

राजा अजीतसिंह का पत्र

अजीतसिंह द्वारा अनुमोदन

प्रिय महेन्द्रनाथ,

आशा करता हूँ कि यह पत्र तुम्हारे पास सुरक्षित रूप से पहुँच जायेगा और यह भी कि तुम मेरे दीवान द्वारा पत्र लिखा जाना बुरा नहीं मानोगे, क्योंकि इस बार और भविष्य में मेरी यही इच्छा है। इससे तुम कहीं यह मत सोच लेना कि मैं

६. Ibid, P. 151

७. Ibid, P. 173-74

८. Ibid, P. 154-55

तुम्हें बीच-बीच में लिखना भी बिल्कुल बन्द कर दूँगा।

कृपा करके स्वामी रामकृष्णानन्द को मेरा दण्डवत प्रणाम ज्ञापित करना और मुझे उनके स्वास्थ्य के विषय में सूचित करना। मुझे आशा है कि अब वे पूर्णत: स्वस्थ हो गये होंगे और अपनी पूर्व की शक्ति अर्जित कर रहे होंगे।

सभी को मेरी शुभ कामनाओं सहित

तुम्हारा विश्वस्त
अजीतसिंह[९]

महेन्द्रनाथ दत्त के पत्र

इसके उत्तर में महेन्द्रनाथ ने लिखा –

दिनांक १२ जुलाई १८९३
७ रामतनु बोस लेन, सिमला, कोलकाता

सेवा में,

जगमोहन लाल (एस्क्वायर), खेतड़ी

महाशय,

महाराज द्वारा कृपापूर्वक भेजे गये १०० रुपये के सी. नोट सं. वी/४५/६२७४३ के मेरे द्वारा भेजे गये रसीद की पहुँच की सूचना देते हुए आपने जो पत्र लिखने का कष्ट किया, उसके लिये मैं आपको धन्यवाद देता हूँ। यह पहला अवसर है जबकि हम एक-दूसरे से सम्पर्क तथा पत्र-व्यवहार कर रहे हैं। मैं आपके जैसे लोगों से परिचित होकर अपने को भाग्यशाली समझता हूँ, जिन्हें महाराज अपना इतना अधिक विश्वस्त मानते हैं।

दो विशेष चीजों के लिये मुझे आपको पूरे हृदय से धन्यवाद देना है। प्रथम, तो इसलिये कि आपने मुझे महाराज-कुमार की कुशलता तथा उनके (स्वास्थ्य में) सुधार की जानकारी दी है और (साथ ही) मुझे अपने भाई के विषय में समाचारों से पूर्णत: अवगत कराया है। इन दोनों (समाचारों) के लिये हम लोग (विगत) डेढ़ महीनों से भी अधिक काल से अत्यन्त चिन्तित थे। क्योंकि इस दौरान मुझे दोनों के बारे में कोई सूचना नहीं मिली थी।

अपने उत्तर में मुझे महाराज, कुमार, अपने परिवार के अन्य सदस्यों की कुशलता तथा स्वास्थ्य के बारे में सूचित करें और यदि सम्भव हो तो मेरे भाई के बारे में भी, क्योंकि आजकल कोलकाता में (उनका) कोई समाचार नहीं आता।

इस समय हम सभी ठीक हैं। अभी हाल ही में कोलकाता में दो बार बड़ी बाढ़ आयी थी।

आपका आज्ञाकारी सेवक होने से सम्मानित

महेन्द्रनाथ दत्त[१०]

दिनांक ३१ जुलाई १८९३
७ रामतनु बोस लेन, सिमला, कोलकाता

सेवा में,

जगमोहन लाल (एस्क्वायर), खेतड़ी

स्वामी रामकृष्णानन्द जी से मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप मेरे भाई के साथ चेन्नै से अपने ठिकाने (खेतड़ी) तक और फिर वहाँ से मुम्बई जाकर स्टीमर तक विदा कर आये थे। कोलकाता में उनके बारे में कोई सूचना नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि वे चेन्नै के लोगों के प्रतिनिधि के रूप में गये हैं और शिकागो के डॉ. बैरोज ने उनकी यात्रा का किराया भेजा है। इस विषय में यदि आप मुझे कोई सूचना दें, तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी, क्योंकि तीन महीनों से उन्होंने बंगाल के अपने किसी भी मित्र को कोई पत्र नहीं भेजा है। कुछ दिनों पूर्व यहाँ एक अफवाह फैली थी कि वे शिकागो पहुँच गये हैं और उन्होंने मद्रास में उप-महालेखाधिकारी बाबू मन्मथ नाथ भट्टाचार्य को एक टेलीग्राम भेजा है, परन्तु इसकी सम्भावना तथा समय का हिसाब करने पर, मुझे इस बात पर विश्वास नहीं हुआ और मैंने इसे पूर्णत: मनगढ़न्त सोचकर छोड़ दिया। सम्भवत: उनके किसी विराम-स्थान से आपके यहाँ कोई पत्र आया होगा। उनके बारे में कोई समाचार पाकर हम लोगों को बड़ी दिलासा मिलेगी, क्योंकि हम सभी उनके बारे में बड़े चिन्तित हैं।

एक बात जो मुझे सबसे पहले कहनी चाहिये थी, परन्तु अन्त में कह रहा हूँ, वह यह है कि महाराज के परिवार के बारे में जानकारी देने के लिये आप मेरा आभार स्वीकार करें और मैं आशा करता हूँ कि आप कृपापूर्वक अपने प्रत्येक पत्र में मुझे इसकी जानकारी देते रहेंगे।

स्वामी रा. (रामकृष्णानन्द) से मेरे अध्ययन के बारे में आपके प्रश्न के विषय में मुझे यह बताते हुए प्रसन्नता हो रही है कि अब तक मैंने अच्छा काम किया है और कक्षा में मेरी प्रगति अच्छी है, जिसके लिये मेरे प्राध्यापकगण मुझ पर काफी सन्तुष्ट हैं।

उपसंहार के रूप में मैं यह कहना चाहूँगा कि कृपया मेरी ओर से इस के माध्यम से महाराज, महारानी, कुमार तथा आप स्वयं एवं परिवार के अन्य लोगों को मेरा दण्डवत और बाकी लोगों को मेरी शुभ कामनाएं ज्ञापित करेंगे।

आपका विश्वस्त, महेन्द्रनाथ दत्त[११]

स्वामी शिवानन्द का पत्र

अल्मोड़ा
२० जुलाई १८९३

९. Ibid, P. 155 १०. खेतड़ी पेपर्स - १९९९

११. Ibid, P. 156-57

प्रिय राजा साहब,

यद्यपि मैं आपके साथ व्यक्तिगत रूप से परिचित नहीं हूँ, तथापि चूँकि विवेकानन्द मेरे (सर्वोच्च कोटि के) एक गुरुभाई हैं, अत: मैं आपके साथ अपने पत्र-व्यवहार के अधिकार का उपयोग कर रहा हूँ। दो वर्ष पूर्व आपके राज्य में आपसे मिलनेवाले स्वामी त्रिगुणातीतानन्द से, स्वामीजी के कुछ पत्रों से; और मठ में रहते समय आपके एक पत्र को देखकर जिसमें आपने स्वामीजी के पूर्वाश्रम के विषय में पूछताछ की थी, आपके इस कार्य से आपकी उदारता के विषय में मेरे मन में बड़ी उच्च धारणा बनी है – इन सबसे मुझे आपके बारे में जानकारी मिली है और अपनी जाड़े की राजपुताना-यात्रा में मैं शायद आपसे भेंट करूँ।

ऐसी अफवाह उड़ी है कि विवेकानन्द ने इंग्लैंड के लिये प्रस्थान किया है। क्या आप मुझे इस विषय में वास्तविकता से अवगत करायेंगे? यदि यह सत्य है तो क्या आप जानते हैं कि उनका वहाँ का पता क्या होगा? मेरे कुछ यूरोपीय मित्र एक भारतीय संन्यासी के अद्भुत ... (अति-मानवीय) तथा ज्ञान के बारे में सुनकर अत्यन्त आनन्दित हैं; अत: उनमें से एक* अपने मित्रों (लन्दन के थियॉसाफिकल सोसायटी के सदस्यों) को उनके स्थान पर जाकर उनसे मिलने का अनुरोध करना चाहता है, ताकि वे एक सम्माननीय अजनबी की यथासाध्य सहायता कर सकें। और अपने विकासमान सोसायटी का भी कुछ भला कर सकें, जो कि वर्तमान में पाश्चात्य लोगों की यथार्थ भलाई में अद्भुत रूप से कार्यरत है। मुझे नहीं लगता कि आप इस महत्त्वपूर्ण संस्था की गतिविधियों से अपरिचित होंगे; प्राचीन भारतीय ऋषियों द्वारा प्रवर्तित विचारों की नींव पर ही उनकी सोसायटी बनी है, अत: वे सचमुच ही भारतीय संन्यासियों की सहायता लेना चाहते हैं।

क्या अगली सर्दियों में आप खेतड़ी में ही रहने की आशा करते हैं।

आपके लिये शान्ति की कामनाओं के साथ

आपका शुभाकांक्षी, शिवानन्द[१२]

हरिपद मित्र का पत्र

बेलगाम,
११ अगस्त १८९३

सेवा में,
मुंशी जगमोहन लाल जी
महाराजा-खेतड़ी के निजी सचिव

प्रिय महोदय,

पूज्यपाद स्वामीजी, जो शिकागो गये हुए हैं, कृपया मुझे उनका पता बताकर अत्यन्त अनुग्रहित करें। मुझे विश्वास है कि आप उनका पता जानते होंगे, इसीलिये यह अनुरोध किया जा रहा है और इसके लिये मुझे क्षमा करेंगे।

आपका विश्वस्त,
एच. मित्र
वन अधिकारी[१३]

स्वामी रामकृष्णानन्द जी का पत्र

कोलकाता,
१८ अगस्त १८९३

महाशय,

काफी लम्बे समय से हमें अपने अति आदरणीय स्वामी विवेकानन्द के बारे में कोई सूचना नहीं मिली है। यदि आपको उनका कोई समाचार मिला है, तो क्या अपनी सुविधानुसार यथाशीघ्र इस विषय में बताने की कृपा करेंगे? महाराज तथा उनके शिशु कुमार कैसे हैं? ईश्वर करें कि वे सभी सकुशल हों। महाराज तथा उनके कुमार के लिये मेरी सर्वश्रेष्ठ शुभ-कामनाएँ। मेरे नये मित्र! आपको भी मेरा आशीर्वाद।

थ्रेडवर्म से आक्रान्त अपने एक गुरुभाई* की सेवा में हम सभी व्यस्त थे, इसलिये लगभग एक माह से मैं स्वामीजी के छोटे भाई से नहीं मिल सका हूँ। इस समय उन (गुरुभाई) की अवस्था में क्रमश: सुधार हो रहा है।

मेरा विश्वास है कि महाराज स्वामीजी के निर्धन परिवार की यथासम्भव देखरेख और उचित रूप से सहायता कर रहे हैं। मुझे इस विषय में कुछ कहने की जरा भी आवश्यकता नहीं। आशा है आप सभी सकुशल होंगे।

महाराज तथा आपके लिये आशीर्वाद तथा प्रार्थनाओं सहित

आपका विश्वस्त
रामकृष्णानन्द
द्वारा वैकुण्ठनाथ सान्याल

सेवा में,
मुंशी जगमोहन लाल
द्वारा महाराजा-खेतड़ी[१४]

१२. Ibid, P. 152-53 * श्री ई. टी. स्टर्डी

१३. Ibid, P. 177 * स्वामी अभेदानन्द

१४. खेतड़ी पेपर्स - १९९९

चरित्रवान बनिए

जियाउर रहमान जाफरी

चरित्र मनुष्य के शील और आचरण का एक ऐसा दर्पण है, जिसमें व्यक्ति के जीवन को परखा जा सकता है। चरित्र ही मानव को सन्त महात्मा ऋषि और देवता बनाता है और इसका पतन मनुष्य के अधोगति का कारण बनता है। चरित्र ही मनुष्य और शैतान के बीच की विभाजक रेखा है। इसका अतिक्रमण मनुष्य को गर्त में ले जाता है। व्यासदेव कहते हैं – आचारो परमो धर्म: – आचार ही मानव का परम धर्म है। परम्परा में जिस रत्नत्रय की चर्चा की गई है, उसमें चरित्र सबसे प्रधान है। चरित्र मनुष्य की पूँजी है। वह दुनिया की समस्त कलाओं में सुन्दरतम है। यह व्यक्ति को सुसंस्कारित और परिमार्जित कर मनोहर बनाता है।

चरित्र एक श्रेष्ठ सद्‌गुण है, यह ऐसा संस्कार है, जो व्यक्ति को हर बुरे काम से पूर्व सोचने को विवश करता है, सत्कर्मों की ओर उन्मुख करता है और हमारी सभी दुर्बलताओं को दूर करने का सार्थक प्रयास करता है। इसीलिए कहते हैं कि चरित्र मनुष्य को पहचान देता है। यहाँ हर्बट स्पेंसर का यह कथन प्रासंगिक है – मानव की सबसे बड़ी आवश्यकता शिक्षा नहीं, चरित्र है; और यही उसका सबसे बड़ा रक्षक है।

सचमुच चरित्र हमें बुराइयों से बचाकर भलाई की राह पर ले जाता है। यह हमारी विकृतियों, कुवासनाओं और पापाचारों को दूर करके हमारे मन, शरीर और इन्द्रियों को पवित्र और निर्मल बनाता है। संस्कृत के एक श्लोक का अर्थ है – ''चरित्र मनुष्य रूपी वृक्ष का सुन्दर और सुगन्धित पुष्प है।'' सुन्दर और सुगन्धित पुष्प के समान ही उदात्त चरित्र सबको अपनी ओर आकृष्ट करता है और प्रसन्नता प्रदान करता है। अंग्रेजी की प्रसिद्ध कहावत है – धन के नष्ट होने पर कुछ भी नष्ट नहीं होता, स्वास्थ्य के नष्ट होने पर थोड़ा नष्ट होता है, पर चरित्र के नष्ट होने पर सब कुछ हो जाता है।

अपने चरित्र के बल पर भक्त उस सीमा तक पहुँच जाते हैं, जहाँ भगवान स्वयं उनके वश में आ जाते हैं। कहते हैं कि भगवान शिव स्वयं सेवक बनकर मिथिला-कोकिल विद्यापति की सेवा करते थे। उत्तम चरित्र से क्या नहीं हो सकता! इस चारित्रिक पवित्रता के कारण ही भगवान राम शबरी के जूठे बेर खा लेते हैं; कुबड़ी कुब्जा सुन्दर युवती बन जाती है; सती अनसूया शिव को बालक रूप में प्राप्त कर लेती हैं। तुलसी के श्रीराम स्वयं को पाने का गूढ़ रहस्य बताते हैं –

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल-छिद्र न भावा।।

स्पष्ट है कि परमानन्द और लोकानन्द की प्राप्ति तभी सम्भव होगी, जब हमारा मन छल-कपट से पाक-साफ हो। कहा भी गया है – प्रेम ते प्रकट होंहि भगवाना। हमारे सभी पौराणिक ग्रन्थों में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं, जहाँ कृष्ण के समक्ष कंस, अर्जुन के सामने दुर्योधन और भक्त प्रह्लाद के आगे हिरण्यकश्यपु आदि चरित्रहीन शक्तियाँ अपना दम तोड़ देती हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण में पृथ्वी देवी ब्रह्माजी से कहती हैं – जो अपने धर्म और आचार से रहित है, जिसमें प्रेम, दया, सत्य और आचरण का अभाव है, जो माता-पिता गुरु, अतिथि की सेवा नहीं करते, मैं ऐसे लोगों के मार से पीड़ित हूँ। फिर भारत तो हमेशा से चरित्रवानों का देश रहा है। ऋषियों, मुनियों, सूफी-सन्तों, पैगम्बरों की पूँजी चरित्र ही रही है। उनके इसी बल के कारण राजे-महाराजे उनसे आशीर्वाद लेने उनके कुटीर तक पहुँचे, पर वे राजमहलों के आमंत्रण पर कह दिया करते थे – संतन को कहाँ सीकरी सो काम। इन्हीं सूफी-महात्माओं के सान्निध्य ने हमें सम्बल प्रदान किया। सचमुच हमारा सम्बन्ध जैसे लोगों के साथ होगा, हमारा चरित्र भी वैसा ही होगा। इसी चरित्र-निर्माण के लिए प्राचीन समय में शिष्यों को गुरुकुल भेजा जाता था। दो तोते की प्रसिद्ध कहानी में, एक तोता जो पण्डित के हाथ बिका, उसने वैदिक मंत्रोच्चार सीख ली, पर दूसरा तोता जो कसाई के हाथों फरोख्त हुआ, उसने कसाई की बोली सीख ली – 'मारो-बाँधो, जिबह करो, काटो ...।' जो लोग उत्तम चरित्र के होते हैं, वे कभी परास्त नहीं होते। कभी मरते भी नहीं। वस्तुत: वे ही लोग मर कर अमर हो जाते हैं। शहादत उन्हें ही शोभायमान बनाती है। हमारा चरित्र हमारी मानसिकता, हमारी जीवन-शैली, हमारे संस्कार और हमारे व्यक्तित्व का द्योतक होता है। स्वामी रामतीर्थ के पास एक बार एक रूपवती युवती आई और उनके समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा। कारण बताते हुए युवती बोली – ''मैं आपके समान ही मेधावी पुत्र चाहती हूँ।'' स्वामीजी ने कहा – ''माते! मेरे जैसा क्यों, मैं ही आपका पुत्र बन जाता हूँ। आप मेरी माँ हैं।'' विश्व-इतिहास में शायद ही ऐसा कोई दूसरा उदाहरण मिले। स्मरण रहे चरित्रवान व्यक्ति जहाँ भी रहे, लोकप्रिय हो जाता है। इन्द्रियाँ उससे हार जाती हैं। तामसी शक्तियाँ भी उसके सम्मुख दम तोड़ देती हैं। बापू ने कहा था – ''वह आजादी जो चरित्र खो कर मिले, मुझे स्वीकार्य न होगा।''

हमारे बच्चे अनुकरण द्वारा ही सब कुछ सीखते हैं। माँ-बाप व समाज का चरित्र उनका व्यक्तित्व निर्धारण करता है। अत: चरित्रवान होने में ही हमारे जीवन की सार्थकता है। उर्दू के प्रसिद्ध शायर नजीर बनारसी का एक शेर है – '**अगर आ जाए जीने का सलीका, बहुत है चार दिन की जिन्दगी भी।**

पत्रों में स्वामीजी के संस्मरण (१)
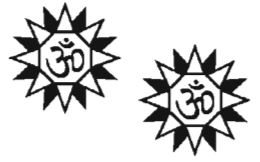
भगिनी निवेदिता

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया । उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

१. *कोलकाता, १५ फरवरी, १८९९* : सोमवार को मेरा काली-विषयक व्याख्यान हो गया। अल्बर्ट हॉल खचाखच भरा हुआ था। सभापति ने काली के तथा मेरे विरोध में कुछ कहा और उस समय एक बड़ा ही भावुक दृश्य उपस्थित हो गया, जब उस चरम उत्तेजना के बीच दुर्भाग्यवश एक भक्त ने उठकर उन्हें तरह-तरह की गालियाँ दीं। मुझे खेदपूर्वक कहना पड़ता है कि जब मैं इन सब बातों के बारे में सोचती हूँ, तो मुझे हँसी आती है। स्वामीजी मेरे व्याख्यान पर बड़े प्रसन्न थे और मेरा विश्वास है कि इसके पीछे अवश्य कुछ कारण होगा, क्योंकि उसके बाद से कई बार मेरे मन में विचार आया कि मैंने इसके द्वारा हानि ही तो पहुँचायी है। ब्रह्म-समाजियों का कहना है कि (मैंने जो कहा) वह काली-पूजा नहीं था और जनता ने वही समझा, जो उनकी हीनतम भावनाओं को जँचा।

अस्तु। कालीघाट (मन्दिर) के लोगों ने मुझे वहाँ कालीपूजा पर बोलने को कहा है। भले ही इससे कोई लाभ न हो, परन्तु स्वामीजी का विचार है कि यह संकीर्णता पर सबसे बड़ा आघात होगा। मेरे व्याख्यान के फलस्वरूप – उत्कृष्ट भावनाओं तथा ताजगी से भरपूर एक तरुण की मित्रता तथा उत्साह के रूप में मुझे एक बड़ा प्रिय उपहार मिला है। 'बलि' का मूल तात्पर्य मेरी समझ में आ गया है और सोचती हूँ कि क्या मैं इसे व्यक्त कर सकूँगी ! ऐसा लगता है कि भक्त जब तक पशु के बदले में स्वयं को अर्पित करने और उसके बाद पैलिकन* पक्षी के समान स्वयं ही अपना रक्त निकालकर उससे रंजित पुष्पों द्वारा जगदम्बा के चरणों को आच्छन्न कर देने की शक्ति नहीं जुटा पाता, तभी तक उसे पशुबलि की जरूरत होती है। इससे इस पूरी प्रक्रिया की व्याख्या तथा यौक्तिकता समझ में आ जाती है। मैं नहीं जानती कि तुम इस विषय में क्या सोचती हो। जब स्वामीजी ने मेरे समक्ष इसकी व्याख्या की तो लगा कि सभी लोग इस विषय में जानते हैं, अत: मुझे लगता है कि यह सर्वमान्य है।

कल हम दो जन वयोवृद्ध देवेन्द्रनाथ टैगोर का आशीष लेने गयीं। स्वामीजी ने पहले से ही सन्देश भेज दिया था कि वे इस पर विशेष रूप से प्रसन्न हैं और मैंने यह बात वृद्ध को बतायी और कहा कि मुझे लग रहा है कि मैं अपने प्रणाम के साथ ही स्वामीजी का प्रणाम भी निवेदित कर रही हूँ। इस पर वे बड़े भावुक हो उठे और बोले कि एक बार नौका में भ्रमण करते समय वे स्वामीजी से मिल चुके हैं और यदि वे एक बार और उनसे मिलने आएँ, तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता होगी। जब मैंने स्वामीजी को यह बात बतायी, तो वे अत्यन्त भावविभोर हो उठे और बोले – "अवश्य जाऊँगा; और तुम भी मेरे साथ चल सकती हो। जितना जल्दी हो सके, इसके लिये एक दिन निर्धारित कर लो !" लगता है कि एक किशोर के रूप में वे श्री टैगोर की नाव पर चढ़ गये थे और उद्वेगपूर्वक अद्वैतवाद के बारे में प्रश्न किया था। इस पर वृद्ध ने कुछ देर चुप रहने के बाद धीरे से इतना ही कहा था – "प्रभु ने मुझे केवल द्वैतवाद ही दिखाया है।" और इसके बाद उन्होंने स्वामीजी की पीठ ठोकी और कहा था – तुम्हारी आँखें योगियों जैसी हैं।

२. *कोलकाता, २१ फरवरी, १८९९* : हम लोग कुछ मित्रों से मिलकर आये थे। मेरे काली-विषयक व्याख्यान ने स्वामीजी को उनके विषय में बातचीत के लिये एक पृष्ठभूमि बना दी थी। अत: उनकी बातें प्रतीकवाद पर ही केन्द्रित हो गयीं। वे बोले – "बेचारे म. ने कभी प्रतीकवाद के इतिहास का अध्ययन ही नहीं किया है। इसीलिये उसकी समझ में नहीं आता कि नैसर्गिक प्रतीक किसी काम के नहीं हैं। देखो, मुझे एक बड़ी विचित्र शिक्षा मिली थी। मैं श्रीरामकृष्ण के पास गया और मुझे उनसे लगाव हो गया, परन्तु मुझे उनके सभी विचारों से घृणा थी। और इस कारण मुझे छह वर्षों तक निरन्तर कठोर संघर्ष करना पड़ा। मैं कहता – "आप मुझे जो कुछ करने को कहते हैं, उस पर मुझे रत्ती भर भी विश्वास नहीं है" और वे कहते – "चिन्ता मत करो। इसे करो और इसका ऐसा-ऐसा फल होगा।" सर्वदा ही वे मुझे

* एक आख्यायिका के अनुसार यह पक्षी अपनी चोंच से अपने सीने को खरोचकर उससे निकला हुआ रक्त अपने बच्चों को पिलाता है।

इतना प्रेम देते, जितना मुझे कभी किसी ने नहीं दिया था और उसके साथ ही अत्यन्त सम्मान का भाव भी रहता था। वे सोचा करते – "आगे चलकर यह बालक ऐसा-ऐसा होगा।" और वे मुझे अपना कोई छोटा-मोटा सेवा का कार्य नहीं करने देते थे। उन्होंने अपने जीवन के अन्त काल तक ऐसा ही भाव बनाये रखा। वे मुझे पंखा झलने या अन्य अनेक प्रकार की सेवा करने की अनुमति नहीं देते थे।"

३. *कोलकाता, १२ मार्च, १८९९* : अपराह्न में चार बजे एक संन्यासी मिलने आये और जब मैंने बताया कि मैं 'प्रबुद्ध-भारत' पत्रिका के लिये स्वामीजी का साक्षात्कार लेना चाहती हूँ, तो उन्होंने प्रस्ताव किया कि मठ लौटते समय शाम के ६ बजे वे मुझे बजरे में ले जायेंगे। मुझे वापस लाने के लिये साथ में स. भी आये थे और इसलिये हम टहलते हुए ही वापस लौटे। हम लोग वहाँ ८ बजे पहुँचे। स्वामीजी वृक्ष के नीचे धूनी के पास बैठे हुए थे। ... मेरा साक्षात्कार पूरा हो जाने के बाद वे बोले, "मार्गट, सुनो, मैं अनेक दिनों से न्यूनतम प्रतिरोध के पथ के विषय में सोच रहा हूँ, परन्तु यह एक भ्रान्ति मात्र है। यह एक सापेक्ष वस्तु है। जहाँ तक मेरा सवाल है, अब मैं इस पर कभी सिर खपाने वाला नहीं हूँ। संसार का इतिहास कुछ सच्चे लोगों का इतिहास है और जब कोई व्यक्ति सच्चा होता है, तो सारे जगत् को उसके चरणों में आना पड़ता है। मैं अपने आदर्श के साथ समझौता नहीं कर सकता, अब मैं सीधे-सीधे आदेश दूँगा।"

४. *कोलकाता, ९ अप्रैल, १८९९* : स्वामीजी कहते हैं कि बहुत-सा कार्य एक साथ ही हाथ में ले लेना मेरी बड़ी भूल है और उनका कहना बिल्कुल सही है। मुझे प्लेग-सेवा का सारा विचार छोड़ देना होगा और सफाई का जो कार्य हमने हाथ में लिया है, उसी में और भी निष्ठा-पूर्वक अपना पूरा मन-प्राण लगा देना होगा। क्या यह उचित नहीं होगा? तुम तो जानती ही हो कि जोखिम-भरे प्लेग की आनन्दपूर्ण उत्तेजना की तुलना में, मेरे लिये यह आत्मत्याग तथा आज्ञाकारिता का अनन्त गुना श्रेष्ठ प्रमाण होगा। मैं अपनी बालसुलभ गर्व के चलते ऐसा कह रही हूँ, क्योंकि मेरे एक घनिष्ठ मित्र मेरे उसमें लगे न रहने पर बड़े दुखी हैं। और मैं भी ऐसी स्वाभिमानिनी हूँ कि उन्हें सीधे-सीधे ऐसा कहने का या फिर अपनी सफाई देने का मौका नहीं दे सकती, तथापि अब भी इतनी स्वाभिमानिनी नहीं हूँ कि अपनी अन्तरात्मा की शंकाओं के परे जा सकूँ।

सफाई के मद में हमारे पास २३५ रुपये एकत्र हुए थे। यह एक बड़ी सफलता प्रतीत होती है, परन्तु वस्तुत: हम इससे भी काफी अधिक कर सकते थे। जो संन्यासी इस कार्य के संचालक हैं, वे शनिवार को उन्हें रीपोर्ट देने गये थे। उन्होंने बताया कि स्वामीजी यह समाचार सुनकर इतने भावुक हो उठे थे कि वे निरन्तर दो घण्टों तक उपनिषदों सहित विविध विषयों पर बोलते रहे। वे बोले – "इस सक्रियता, इस मनुष्यता और सहकारिता के बिना कोई धर्म नहीं हो सकता। निवेदिता एक कोने में रहती थी और अंग्रेज लोग उसकी सहायता करते थे। ईश्वर उन सबका भला करें!" परन्तु आज जब मैं उनके पास गयी, तो मुझे विस्मय में डालते हुए उन्होंने पलके झपकाते हुए कहा – "प्लेग, मार्गट, प्लेग!" वे मुझसे बोले – "सम्भव है कि हमारे ये लोग रुक्ष तथा असंस्कृत हों, परन्तु ये ही बंगाल के पौरुषयुक्त लोग है। यूरोप की नारियों द्वारा वहाँ का पौरुष सुरक्षित रखा गया था, क्योंकि वे कापुरुषता से घृणा करती थीं। बंगाल की बालिकाएँ कब यह भूमिका अदा करेंगी और कापुरुषता के प्रत्येक झलक को निर्ममतापूर्वक उपहास के द्वारा धूलिसात कर देंगी!"

५. *कोलकाता, १ मई, १८९९* : स्वामीजी बुखार तथा ब्रांकाइटिस (श्वांस नली की सूजन) से आक्रान्त होकर मठ में बिस्तर पकड़े हुए हैं।

शुक्रवार को दोपहर में मैं स्वामीजी के साथ भोजन करने गयी। ... परन्तु शनिवार को उनका मनोभाव बिल्कुल ही भिन्न था। उनके दिन अब पूरे होने को आ रहे थे; और यदि न भी आ रहे हों, तो वे समझौते का भाव त्याग देंगे। वे हिमालय में चले जायेंगे और ध्यान में डूब जायेंगे। वे संसार में जायेंगे और चरम सत्यों का प्रचार करेंगे। मनुष्यों के बीच जाना और उन्हें यह बताना कि वे जहाँ हैं, ठीक ही हैं आदि आदि – कुछ काल के लिये यह ठीक था। परन्तु अब वे ऐसा नहीं कर सकेंगे। अब उन्हें त्याग करना होगा, त्याग करना होगा, त्याग करना होगा। इसके बाद उन्होंने धीरे से कहा – "मार्गट, अभी तुम इस बात को नहीं समझोगी, परन्तु जब तुम आगे बढ़ोगी तो समझोगी।"

मैं जानती हूँ कि बंगाल में स्वामीजी के लिये पर्याप्त धन है, पर लोग उसके साथ अपनी शर्तें रखना चाहते हैं, इसलिये वह धन कभी उनके पास नहीं पहुँचता। यही उनका सच्चा भाव है – सिद्धान्त के लिये पकवानों को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर देना और उसकी कीमत के रूप में भूखमरी को स्वीकार करना। स्वामीजी का मार्ग सही है कि जगत् के प्रति यही भाव होना चाहिये, कोई दूसरा नहीं। यह दुनिया ऐसी है कि जो व्यक्ति इसे पकड़ना चाहता है, उसको यह पराभूत कर देती है और जो इसका त्याग करता है, उसके सामने झुक जाती है। ...

६. *कोलकाता, ८ मई, १८९९* : अहा, ये पंक्तियाँ कितनी सुन्दर हैं! – जीवन में तुम्हारा लक्ष्य अपने स्वरूप को खोजना है, अत: इस जीवन को खोजने से विरत हो

जाओ।'' वस्तुत: यही पूर्ण सत्य है। जिन वस्तुओं को मनुष्य ढूँढ़ता है और जिन वस्तुओं को उसे ढूँढ़ना चाहिये – दोनों के बीच जमीन-आसमान का भेद है।

आज मैं स्वामीजी से मिलने गयी थी। उन्होंने बताया कि अट्ठारह वर्ष की आयु में उन्हें कैसे थामस-ए-कैम्पिस लिखित 'ईसानुसरण' की एक प्रति मिली, जिसकी भूमिका में लेखक के मठ तथा उसकी व्यवस्था का विवरण दिया हुआ था। और यही उनके लिये उस पुस्तक के प्रति चिर आकर्षण का कारण था। परन्तु उन्होंने कभी नहीं सोचा था कि एक दिन उन्हें भी उसी तरह का कुछ बनाना पड़ेगा। ''देखो, मुझे थामस-ए-कैम्पिस से बड़ा लगाव है और उनकी प्राय: पूरी पुस्तक ही मुझे कण्ठस्थ है। ईसा ने क्या कहा, इसे लिखने के लिये इतनी दौड़-धूप करने की जगह, यदि लोगों ने यह लिखा होता कि ईसा क्या खाते थे, क्या पीते थे और कहाँ रहते तथा सोते थे, और अपने दिन कैसे बिताते थे, तो कितना अच्छा होता। अहा, वे लम्बे-लम्बे भाषण! धर्म के बारे में जो बातें कथनीय हैं, उन्हें उँगलियों पर गिना जा सकता है। उनका कोई महत्त्व नहीं, महत्त्व है उनसे विकसित होकर निकलने वाले मनुष्य का। हाथ में भाप का एक गोला लो और देखो कि कैसे वह धीरे-धीरे विकसित होकर एक मनुष्य में परिणत हो जाता है। मुक्ति अपने आप में कुछ भी नहीं है, यह केवल एक प्रेरणा-शक्ति है। वे सब चीजें प्रेरणा-शक्ति के सिवा और कुछ भी नहीं हैं। वे मनुष्य का निर्माण करते हैं; और वही सब कुछ है!'' अब मुझे याद आ रहा है कि उन्होंने यह कहते हुए आरम्भ किया – ''आवश्यकता श्रीरामकृष्ण के शब्दों की नहीं, बल्कि उनके द्वारा जीये गये जीवन की थी, और उसे लिखा जाना अब भी बाकी है। वस्तुत: यह जगत् चित्रों की एक श्रृंखला है और इसके भीतर मनुष्य-निर्माण का लक्ष्य पिरोया हुआ है। और हम सभी केवल मनुष्य का निर्माण ही देख रहे थे। श्रीरामकृष्ण सर्वदा अवांछित पुरानी चीजों की निराई करके उनका त्याग करते रहते थे; उन्होंने सर्वदा तरुण लोगों का ही अपने शिष्यों के रूप में चयन किया।''

७. *कोलकाता, १८९९* : इस सप्ताह की एकमात्र उल्लेखनीय घटना है – शुक्रवार की रात को अपने मित्रों के साथ कुछ बातें। उसके पति ने थोड़ी कटुता के साथ कहा कि उन्हें 'मिस नोबल' की जगह 'भगिनी निवेदिता' कहने का अभ्यास करना पड़ेगा और तभी मेरे बारे में मानवी के रूप में उनकी धारणा में कमी आ सकेगी। वर्तमान में मेरी (तथाकथित) भयंकर संकीर्णता उनके लिये असह्य रूप से कष्टदायी हो उठी थी। मैंने उनसे हमारे बीच के मतभेदों को स्पष्ट करने को कहा। उन्होंने बताया। स्वामीजी के गुरुदेव की पूजा – ''एक ऐसे व्यक्ति की, जो एक संकीर्ण साँचे में ढला हो, एक ऐसे व्यक्ति की जो महिलाओं को अर्ध-राक्षसी समझता हो और उन्हें देखते ही बेहोश हो जाता हो।'' कुछ विस्मय तथा कुछ मुस्कुराहट के साथ मैंने कहा मैं उनके वर्णन से सहमत नहीं हूँ। मैंने उन्हें बताया कि स्वामीजी सहित हममें से कोई भी नहीं चाहता कि वे भी यह पूजा करें। यह व्यक्तिगत बात है। इसके बाद वे फिर बोले – ''वर्तमान भारत को एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है, जो सबको समाहित करनेवाला तथा सभी मतों में एकता स्थापित करनेवाला हो और अवतार-वाद से इसकी पूर्ति नहीं होती।' परन्तु मेरे लिये यह बात विचित्र थी, क्योंकि मुझे तो इस आवश्यकता की पूर्ति का यही एकमात्र मार्ग प्रतीत होता है – एक ऐसे अवतार, जो घोषणा करते हों कि सभी धर्मों का लक्ष्य एक है। जो व्यक्ति अवतारवाद में श्रद्धा नहीं रखता, उसे स्वामीजी के समान उन्हें अवतार कहने की जरूरत नहीं।

मेरे मित्र पुन: बोले – ''इससे किसी नये धर्म की सत्ता नहीं प्रमाणित होती।'' मैं बोली – ऐसा कोई भी नहीं चाहता; संघ के सामने इस समय सभी तरफ जो थोड़ा-सा शिक्षा-प्रसार का कार्य है, उसके सिवा कोई कुछ भी योजना नहीं बना रहा है और न परेशान है। पूजा और भविष्य के धर्म के प्रश्न का जो होना है, होता रहे। इसके बाद उन्होंने बताया कि जब उन्होंने स्वामीजी की यह वाणी सुनी कि अपने देशवासियों में पौरुष जगाना ही उनका लक्ष्य है, तो वे रोमांचित हो उठे थे। फिर इंग्लैंड में रहते हुए उसी भाव के साथ उन्होंने स्वामीजी की कोलकाता में दी हुई वक्तृता पढ़ी और देखा कि सत्य तथा मानवता की सच्ची सेवा के लिये उन्होंने अपनी महान् लोकप्रियता को तुच्छ समझकर उड़ा दिया है। परन्तु जब उन्होंने देखा कि स्वामीजी अपने गुरु की पूजा तथा और भी कुछ-कुछ करने जा रहे हैं, तो वे हताश हो उठे। जो व्यक्ति ऐसा वीर पुरुष था, वह अब एक नये सम्प्रदाय का नेता बन गया है। मैं यह सब साक्ष्य के रूप में तुम्हें लिख रही हूँ। सम्भव है कि किसी दिन लोग कहें – ''स्वामीजी ने नया कुछ भी नहीं किया और नया कुछ भी नहीं कहा।'' इसलिये यह भावुकतापूर्ण मतभेद मेरे लिये बड़ा ही मूल्यवान है।

८. *श्रीलंका का समुद्र-तट, २८ जून, १८९९* : चेन्नै में काफी उत्तेजना फैली थी। बहुत से लोगों ने गवर्नर से अनुरोध किया था कि स्वामीजी को उतरने दिया जाय। परन्तु प्लेग को ध्यान में रखते हुए हमें जहाज में ही रहना पड़ा और इससे मेरे मन को राहत ही मिली, क्योंकि समुद्र-यात्रा उनके स्वास्थ्य को काफी लाभ पहुँचा रही थी और एक दिन की भीड़भाड़ और व्याख्यान भी उन्हें काफी थका देते। लोग उपहारों तथा अभिनन्दन-पत्रों के साथ नावों

में भर-भरकर निरन्तर जहाज के निकट आ रहे थे और दिन भर जहाज से नीचे उनकी ओर सौजन्यतापूर्वक देखते रहना भी कम थकानेवाला न था। ...

स्वामीजी को आये एक घण्टा ही हुआ था और किसी प्रकार बातचीत का रुख प्रेम के प्रश्न की ओर मुड़ गया। अन्य चीजों के अलावा वे अंग्रेज तथा बंगाली वधुओं की निष्ठा के बारे में बोले और बताया कि किस प्रकार वे चुपचाप कष्ट सहती रहती हैं। वैसे जीवन में क्षण भर के लिये आनन्द तथा कविता की झलक भी मिल जाती है, परन्तु उसके लिये मानवीय प्रेम को आँसुओं के सागर से होकर गुजरना पड़ता है। दुख के आँसू ही आध्यात्मिक उपलब्धि कराते हैं, खुशी के आँसू कदापि नहीं। वे बोले कि दूसरों पर निर्भरता दु:ख से परिपूर्ण है, स्वाधीनता में ही सुख है। हर तरह के मानवीय प्रेम निर्भरता से परिपूर्ण हैं, वैसे माँ का प्रेम इसमें कभी-कभी अपवाद हो सकता है। यह प्रेम अपने प्रेमास्पद के सुख के लिये नहीं, बल्कि स्वयं के सुख की कामना करता है। यदि कल वे शराबी हो जायँ, तो वे अपने शिष्यों से प्रेम की कदापि अपेक्षा नहीं करेंगे, क्योंकि वे लोग तो घबड़ाकर तत्काल उनका परित्याग कर देंगे। परन्तु उनके कुछ गुरुभाई (सब नहीं) ऐसा नहीं करेंगे। उन लोगों की दृष्टि में वे तब भी वही बने रहेंगे। वे बोले – "सुनो मार्गट, जब आधे दर्जन लोग इस प्रकार प्रेम करना सीख जाते हैं, तभी एक नये धर्म का जन्म होता है। उसके पहले नहीं। मुझे सर्वदा उस महिला की याद आती है, जो भोर के समय कब्रिस्तान में जाती है और जब वहाँ खड़ी होती है, तो उसे एक आवाज सुनाई देती है। वह सोचती है कि यह माली की आवाज है और तब ईसा उसका स्पर्श करते हैं। वह मुड़कर देखती है और केवल इतना ही कह पाती है – 'मेरे प्रभु ! मेरे नाथ !' बस इतना ही – 'मेरे प्रभु ! मेरे नाथ !' व्यक्ति जा चुका है। प्रेम पशुत्व से आरम्भ होता है, क्योंकि यह स्थूल होता है। उसके बाद यह बौद्धिक हो जाता है और अन्त में यह आध्यात्मिकता तक पहुँच जाता है। केवल अन्त में – 'मेरे प्रभु ! मेरे नाथ !' मुझे इस तरह के आधे दर्जन शिष्य दो और मैं पूरी दुनिया को फतह कर लूँगा।"

९. *अमेरिका, ९, १२ तथा १३ अक्तूबर, १८९९* : स्वामीजी डेढ़ घण्टे से टहल रहे थे और मुझे भद्रता, 'कितना प्यारा', 'कितना सुन्दर' आदि उद्‌गारों – और इनके माध्यम से सदा होनेवाले बाह्य जगत् के बोध के बारे में सावधान कर रहे थे। बीच-बीच में वे कह उठते – "हिमालय में चली जाओ। बिना किसी भावुकता के अपने स्वरूप की अनुभूति कर लो; और जब तुम अपनी आत्मा को जान लोगी, तब तुम वज्रपात् के समान दुनिया पर टूट पड़ोगी। मुझे ऐसे लोगों में विश्वास नहीं है, जो पूछते हैं – "क्या कोई मेरे प्रचार पर ध्यान देगा?" जिसके पास कुछ कहने को है, जगत् कभी भी उसके उपदेशों को सुनने से इन्कार नहीं कर सकता। अपनी स्वयं की शक्ति पर निर्भर होकर खड़ी हो जाओ। क्या तुम ऐसा कर सकती हो? तो फिर हिमालय में चली जाओ और शिक्षा ग्रहण करो।" इसके बाद वे शंकराचार्य के वैराग्य-बोधक 'चर्पट-पंजरिका' के १६ श्लोकों की आवृत्ति करने लगे, जिसके प्रत्येक के अन्त में आता था – 'भज गोविन्दं मूढमते !' (इसलिये हे मूढमति, ईश्वर की आराधना करो।)

समाज तथा गृह के क्षुद्र सम्बन्धों के परे उठना; इन्द्रियों के सतत आमंत्रण को नकारते हुए अपनी अन्तरात्मा को संयमित रखना; शरत् काल के वृक्षों को देखकर होनेवाले आनन्द को भी आरामदायक बिस्तर पर शयन तथा सुस्वादु भोजन के समान ही सच्चा भोग-सुख समझना; लोगों की तुच्छ प्रशंसा तथा निन्दा से घृणा करना – वे पुन: पुन: इन्हीं आदर्शों को हमारे सम्मुख रखते। वे बारम्बार कहते – "तितिक्षा का अभ्यास करो।" तितिक्षा अर्थात् देह के कष्टों का प्रतिकार किये बिना, उन पर ध्यान दिये बिना, उन्हें सहन करना। वे उस संन्यासी का उदाहरण देते, जिसकी उँगलियाँ कोढ़ से सड़ रही थीं। उनके घाव से एक कीड़ा जमीन पर गिर गया था। उन्होंने धीरे-से झुककर उसे उठाया और फिर उसी घाव पर रख दिया। फिर वे दु:खों से प्रेम तथा मृत्यु का आलिंगन करने की बात कहते। इसके बाद उन्होंने ध्यान दिलाया कि केवल वे ही सभ्यताएँ स्थायी होती हैं, जिनमें वैराग्य का पुट होता है।

निश्चय ही हम सभी समझते हैं कि कर्तव्यों की शृंखला भी एक फार्मूला मात्र है। कितना स्पष्ट प्रतीत होता है कि व्यक्ति एक ऐसी जंजीर से बँधा हुआ है, जिसे तोड़ने की क्षमता उसमें अब तक नहीं आ सकी है ! कल स्वामीजी शिव के बारे में बोल रहे थे – "तुम्हारा जीवन केवल आत्म-चिन्तन के लिये ही हो। एक मुक्तात्मा के लिये ध्यान तक एक बन्धन प्रतीत होता है, परन्तु परमेश्वर शिव जगत् के कल्याण हेतु ध्यान में तन्मय रहते हैं। और हिन्दुओं का विश्वास है कि इन महान् आत्माओं की प्रार्थना तथा ध्यान-धारणा के अभाव में जगत् का तत्काल ध्वंस हो जायेगा। (अर्थात् अन्य लोगों को व्यक्त तथा मुक्त होने का अवसर ही नहीं मिलेगा।) क्योंकि ध्यान ही वह महानतम तथा प्रत्यक्षतम सेवा है, जो दूसरों के लिये की जा सकती है।

वे बता रहे थे कि कैसे हिमालय की हिमराशि और बीच-बीच में वनों की हरियाली फैली है। वे कालीदास का उद्धरण देते हुए बोले – "महादेव के देह पर प्रकृति-सती मानो निरन्तर आत्माहुति दे रही हैं।" ❖ **(क्रमशः)** ❖

माँ की स्मृति-सुधा (पूर्वार्ध)

स्वामी वासुदेवानन्द

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

१९२२ ई. की अप्रैल-मई में मैं एक बार मठ गया था, वहीं गंगाराम महाराज[१] से भेंट हुई। १९०८ ई. में कटक में उनके साथ परिचय हुआ था। उन्होंने कहा – "मैं उद्‌बोधन जा रहा हूँ, तू भी जायेगा?" मैं बिना कुछ कहे उनके साथ चल पड़ा। एक महाराज – बूढ़े बाबा[२] बोले –"गंगाराम ने अच्छा चेला बनाया है। एक दिन फिर आकर मठ में प्रसाद पाना। मैं – 'जो आज्ञा' कहकर चला। उद्‌बोधन में आकर माँ का दर्शन मिला। माँ का यही मेरा प्रथम दर्शन था।

मैंने देखा – माँ का पूरा शरीर श्वेत चादर से ढँका हुआ था। मैंने प्रणाम किया। मैंने कभी सपने में नहीं सोचा था कि उनके श्रीचरणों को स्पर्श कर सकूँगा – उनकी चरणधूलि ले सकूँगा। माँ ने गंगाराम महाराज के हाथों नीचे प्रसाद भेज दिया। इसके बाद घर लौटने के लिये मैं सड़क पर चला आया। गंगाराम महाराज और कपिल महाराज[३] भी साथ-साथ आये। दोनों ने कहा – "तुम्हारा महासौभाग्य है !" गंगाराम महाराज दोपहर का प्रसाद पाने के लिये उस दिन वहीं रहे।

उसके बाद माँ के उद्बोधन में उपस्थिति की बात ज्ञात होते ही मैं, परेश[४] तथा नगेन[५] उनका दर्शन करने जाते। बेलूड़ मठ और बलराम मन्दिर में आते-जाते रहने से मेरी बूढ़े बाबा के साथ खूब घनिष्ठता हो गयी थी। वे मुझे साधु होने के लिये खूब उत्साहित करते।

अन्तरंग अनुभूति की बातें किसी को बताने की इच्छा नहीं होती, क्योंकि मैं स्वयं ही उनकी कोई युक्तिसंगत व्याख्या नहीं पाता। बचपन से ही, मेरी समझ में नहीं आता कि मेरा दिमाग खराब है या कोई और बात है ! अँधेरे कमरे में जाते ही ज्योतिर्मय राधा-कृष्ण की मूर्ति देखता। स्वप्न में देखा है पूरे आकाश में छाया हुआ महा-ज्योतिर्मय ओंकार ! और कितनी ही बार आँखें मूँदते ही सचमुच साँड पर सवार हर-गौरी को देखता। तब मैं मिर्जापुर स्ट्रीट (अब सूर्यसेन स्ट्रीट) के रिपन स्कूल (अब सुरेन्द्रनाथ कॉलेजियेट स्कूल) की तीसरी कक्षा (आज की आठवीं) में पढ़ता था।

मठ में सम्मिलित होने के पूर्व एक दिन स्वप्न में देखा – मठ में उत्सव हो रहा है। एक व्यक्ति एक सोने के पत्ते में सिन्दूर-पुता लाल पताका हाथ में लेकर आये और बोले – "यही तेरा इष्टमंत्र है।" मैंने देखा कि उस पताके पर एक मंत्र लिखा हुआ है। कुछ दिन तक वही जपता रहा, लेकिन विश्वास नहीं हुआ, अत: छोड़ दिया। कुछ दिनों बाद मैंने मठ में जाकर बाबूराम महाराज से अपनी मंत्रदीक्षा की बात कही। उन्होंने मुझे कृष्णलाल महाराज (स्वामी धीरानन्द) के साथ उद्बोधन में माँ के पास भेज दिया। दीक्षा के समय मैं माँ के बायीं ओर बैठा। वे खूब गम्भीर ध्यान में डूब गयीं। फिर बोलीं – "ठाकुर ने तो तुम्हें पहले ही दीक्षा दी है।" मैंने कहा – "मुझे स्वप्न पर विश्वास नहीं होता, आप ही मुझे फिर से बता दीजिये।" वे हँसकर बोलीं – "यह तुम्हारा मंत्र है, अब जप करो।" यह कहकर उन्होंने पहले ही स्वप्न में प्राप्त मंत्र का उच्चारण किया। उनके निर्देशानुसार मैं जप करने लगा। जप के समय उँगलियों के बीच जगह रहते देखकर वे बोलीं, "उँगलियों के बीच जगह नहीं रहनी चाहिये, नहीं तो जप निकल जाता है।' तत्पश्चात बोलीं – "मैंने जो बताया उन्होंने भी वही कहा।" फिर थोड़ा रुककर बोलीं – "गुरु और इष्ट एक ही है। वे रहे तुम्हारे इष्ट और वे ही रामकृष्ण

---

१. ये स्वामी ब्रह्मानन्द के मंत्र-शिष्य थे। १९०४ ई. में संघ में प्रविष्ट हुए। तीर्थ-भ्रमण तथा तपस्या में उनका प्रबल आकर्षण था। १९५५ ई. ६ जून को बाँकुड़ा जिले के विष्णुपुर में उनका देहत्याग हुआ।

२. स्वामी सच्चिदानन्द। पूर्वनाम दीननाथ सेन, संघ में दीन महाराज नाम से परिचित थे। स्वामी सारदानन्द से इन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। स्वामी अद्वैतानन्द के सिवा श्रीरामकृष्ण के सभी संन्यासी शिष्यों से वे उम्र में बड़े थे, अत: रामकृष्ण-संघ में वे 'बूढ़े बाबा' के नाम से परिचित थे। २२ जून १९२६ को ८६ वर्ष की उम्र में शरीर छूटा।

३. स्वामी विश्वेश्वरानन्द **४.** बाद में स्वामी अमृतेश्वरानन्द। स्वामी ब्रह्मानन्द के मंत्र-शिष्य। १९१४ ई. में संघ में सम्मिलित हुये। फिर मठ और मिशन के एक सह-सचिव हुए। २६ मार्च १९४६ को लाहौर के रामकृष्ण मिशन आश्रम में उनका देहत्याग हुआ।

५. स्वामी सहजानन्द। वे स्वामी ब्रह्मानन्द के मंत्रशिष्य थे। १९१२ ई. में संघ में सम्मिलित होने के पहले स्वदेशी आन्दोलन से जुड़े थे। १६ दिसम्बर १९४१ को काशी सेवाश्रम में उनका देहत्याग हुआ।

भी हैं।'' मैं साष्टांग प्रणाम करके बोला, ''माँ, मुझे भक्ति हो।'' मेरे दोनों भौहों के बीच उँगली रखकर वे बोलीं – ''ठाकुर की कृपा से ज्ञानचक्षु खुलेगा। ठाकुर तुम्हारा यह तृतीय नेत्र खोल देंगे। अज्ञान अन्धकार दूर होगा। देखोगे, कितनी सब अनुभूतियाँ होंगी। खूब धैर्यपूर्वक रहना।''

१९१५. ई. में जगद्धात्री पूजा के समय माँ का दर्शन करने के लिये हम लोग बाँकुड़ा से जयरामबाटी गये। उस समय बाँकुड़ा में दुर्भिक्ष का सेवाकार्य चल रहा था। वहाँ से भवानी, वीरेन, स्वामी शैलानन्द, स्वामी गिरिजानन्द, विभूति (घोष) – हम सब एक साथ मिलकर जयरामबाटी गये थे। माँ के पास उन दिनों रासबिहारी महाराज थे। अरूप चैतन्य (हेमेन्द्र) भी थे। इसी दुर्भिक्ष के समय माँ के मंत्रशिष्य वैकुण्ठ डॉक्टर (बाद में स्वामी महेश्वरानन्द) सहसा एक दिन माँ के पास जाकर संघ में सम्मिलित हो गये।

१९१४ ई. में आत्माराम के डिब्बे पर कालीपूजा और जगद्धात्री-पूजा हुई। इस बार (१९१५ ई.) जयरामबाटी में जगद्धात्री-पूजा के समय मैंने माँ से पूछा – ''आत्माराम के डिब्बे पर क्या इनकी पूजा हो सकती है? 'गुह्यातिगुह्य गोप्त्री त्वं गृहाणास्मत् कृतं जपम्। सिद्धिर्भवतु मे देवि त्वत् प्रसादात् महेश्वरी॥' कहकर डिब्बे को ही जप का समर्पण करता हूँ, क्या इससे दोष नहीं होता?'' माँ बोलीं – ''दोष क्यों होगा? तुम क्या वेदान्त पढ़ते हो? ठाकुर ही महेश्वर और महेश्वरी हैं। शुद्धसत्व योगमाया ही उनकी देह है – वे सशक्ति ब्रह्म हैं। शिव और शक्ति एक हैं। ठाकुर के रोग के समय एक दिन देखा माँ काली गर्दन झुकाये हुए हैं। मैंने पूछा – ''माँ, तुमने ऐसा क्यों कर रखा है?'' वे बोलीं – ''उसके इस (गले के घाव) के कारण। मेरे भी गले में बड़ी पीड़ा है।''

दुर्भिक्ष के समय बाँकुड़ा में बिल्कुल भी बारिश नहीं हुई। बाँकुड़ा के काले विभूति (घोष) के द्वारा माँ को सन्देश भेजा गया – ''लगभग दो वर्ष (१९१५-१९१६) से पानी नहीं बरसा, पूरा इलाका झुलस उठा है; अच्छे-अच्छे कुओं का पानी भी समाप्तप्राय है। बाँधों का पानी भी तेजी से घटता जा रहा है। सड़क के दोनों ओर के वृक्षों में पत्ते नहीं हैं, अब कुछ उपाय कीजिये।'' सुनकर माँ गम्भीर होकर बोलीं – ''तो ठाकुर ने यह क्या किया?'' फिर थोड़ी देर मौन रहकर बोलीं – ''उन्हें कमल के फूलों से ठाकुर की पूजा करने को कहो, पानी बरसेगा।'' इसके बाद वे हँसकर बोलीं – ''परन्तु माँ सिंहवाहिनी की कृपा से इस अंचल में सूखा नहीं पड़ा।'' सचमुच उस मरुभूमि के बीच जयरामबाटी-कामारपुकुर मानो एक मरूद्यान था। चारों ओर हरियाली, जल से भरे कुएँ, लबालब तालाब और आमोदर में भी सर्वदा जल रहता था।

हम लोगों ने पुरुलिया से हजार से भी अधिक कमल लाकर ठाकुर की पूजा की। और उसके साथ-साथ वाणेश्वर शिव लाकर उनके मस्तक पर भी जल ढाला जाने लगा। सुबह बहुत-से लोग एकत्र होकर दारकेश्वर नदी के किनारे एकत्येश्वर शिव के मस्तक पर जल ढालकर आने लगे। दोपहर बीतने के कुछ देर बाद ही आकाश में काले-काले बादल दिखने शुरू हो गये। उसके बाद शाम को करीब साढ़े चार बजे मूसलाधार बारिश शुरू हुई, जो क्रमश: चार-पाँच घंटे चलती रही। अगले दिन सुबह देखा गया, कि कुएँ, तालाब, नदी, नाले – सब पानी से भर गये हैं। मैदान में जो बड़ी-बड़ी दरारें पड़ गयी थी, वह सब जुड़ चुकी थीं।

खबर चारों ओर फैल गयी। दूर-दूर के सूखाग्रस्त स्थानों के लोग ठाकुर की पूजा करने को आने लगे। हम लोग भी कई जगह यथासाध्य साइकिल से जाकर वैसे ही ठाकुर की पूजा करने लगे। वहाँ भी इसी तरह पानी बरसने लगा। कुछ स्थानों के लोग ठाकुर का चित्र खरीदकर ले गये और ब्राह्मण से पूजा करायी; उसका भी वही फल हुआ।

एक दिन जयरामबाटी में ललित चट्टोपाध्याय के बारे में बात हो रही थी। माँ की इतनी कृपा मिली, तो भी वे शराब नहीं छोड़ पा रहे थे। पर माँ के प्रति उनकी असीम भक्ति थी। इन बातों को सुनकर माँ ने कहा था – ''जैसे चर्खी में जब लाल, नीला धागा लपेटते हैं, तो उसमें वह लाल, नीले रंग के क्रम से रहेगा, फिर उसे खोलते समय उसी लाल, नीले के क्रम से निकलेगा। तो भी दोनों में बड़ा अन्तर है – एक में कर्मबन्धन जुड़ रहा है और दूसरे में कर्म- बन्धन खुल रहा हैं, परन्तु दिखते दोनों एक जैसे ही हैं।''

उद्बोधन में पूजा की वेदी पर अनेक देवता विराजित थे – माकू के राधाकृष्ण, माँ के गोपाल, जगद्धात्री-कवच, योगेन-माँ के दो गोपाल, वाणेश्वर शिव, दो गोवर्धन-शिलाएँ, ठाकुर का चित्र और कपिल महाराज की माँ काली आदि। बलराम मन्दिर में बाबूराम महाराज के देहत्याग (३० जुलाई १९१८) होने के कुछ दिन पूर्व (बैशाख में) कपिल महाराज के अस्वस्थ होने के कारण पूजा करने के लिये मठ से मुझे उद्बोधन भेजा गया। पूर्वाश्रम में जैसे वाणेश्वर, शालग्राम शिव, गोपाल की पूजा करता था, यहाँ भी वैसे ही करता। माँ के जयरामबाटी से लौटने पर मैंने उनसे पूछा – ''इन सब देवताओं की किस तरह पूजा करूँगा?'' माँ ने पूछा – ''अब तक कैसे करते थे?'' पूर्वाश्रम में अपनी दादी से मैंने जो मंत्र सीखे थे, वे उन्हें बताये। वे बोलीं – ''अपने इष्ट के बीज-मंत्र से सारी पूजा करोगे। इष्ट ही तो सब कुछ हुए हैं।'' यह कहकर वे इष्टबीज के साथ एक-एक देवता का नाम और 'नम:' शब्द जोड़ बताने लगीं। फिर बोलीं – ''यदि कभी किसी अन्य देवी-देवता की पूजा करने की इच्छा हो, तो ठाकुर की मूर्ति में करने से ही हो जायेगा। क्योंकि इष्ट और वे एक ही हैं और वे ही सर्व-देवदेवी-स्वरूप हुए हैं।''

एक दिन द्विजेन (स्वामी गंगेशानन्द) आदि हम सभी चाय पीने के बाद – "भूख लगी है, भूख लगी है" – कर रहे थे। अर्थात् सुबह ठाकुर का जो प्रसाद बाँटा जाता था, उसमें देरी हो रही थी। गोलाप-माँ ही बाँटती थी। मैं नौ बजे नहाकर साढ़े नौ बजे पूजा करने बैठता। पूजा समाप्त होते प्राय: साढ़े दस बज जाता। पूजा का नैवेद्य सजाकर गोलाप-माँ गंगा नहाने गयी थीं, लौटने में बहुत देर हो रही थी। देरी होते देख माँ ने ठाकुर के नैवेद्य का दो भाग करके, एक भाग पहले ठाकुर के लिये निकाल लिया और बाकी भाग ठाकुर को निवेदित कर लड़कों के लिये भेज दिया। यह सब सुनकर महापुरुष महाराज ने कहा था – "सभी लोग ऐसा नहीं कर सकेंगे, केवल माँ ही ऐसा कर सकती हैं।"

एक दिन मैं चन्दन घिस रहा था, माँ उत्तरी दरवाजे के किनारे दक्षिण-पश्चिम की ओर मुँह करके माला जप करने बैठी थीं। वहाँ किसी अन्य को न देखकर मैंने पूछा – "माँ, बीच-बीच में मन दुर्बल क्यों हो जाता है?" यह सुनते ही माँ माले को रखकर बोलीं – "उधर ध्यान ही मत देना। एक ठाकुर को छोड़ किसके मन में दुर्बलता नहीं आती? आज तक ऐसे किसी महापुरुष ने जन्म नहीं लिया है, जिसके मन में कोई दुर्बलता न उठी हो? यदि अपने को सुधारने की चेष्टा रहे, यदि मनुष्य समझ सके कि मेरे मन में दुर्बलता उठ रही है – तो यही चीज एक बड़ी शिक्षा है, तब महामाया प्रसन्न होकर उसका पथ छोड़ देती हैं। कुछ दिन ठीक-ठीक चलने पर ही मनुष्य सोचता है – 'मेरा सब हो गया' और वह और भी ऊपर उठने की चेष्टा छोड़ देता है। परन्तु विवेकी के मन में भी बीच-बीच में दुर्बलता देकर ठाकुर याद दिला देते हैं कि अभी भी साधना समाप्त नहीं हुई, भूत-प्रेत सब चारों ओर घात लगाकर बैठे हुए हैं; मौका पाते ही गरदन पर सवार हो जायेंगे। इससे क्या होता है – अहंकार नष्ट हो जाता है। जितने दिन जीवित रहोगे सावधानीपूर्वक ठाकुर के शरणागत होकर रहोगे। अहंकार आते ही यह सब गड़बड़ मन में उठेगा। अन्त तक शरणागति का भाव लेकर रहना चाहिये। ठाकुर अपने शरीर में भी एक बार काम का वेग धारण करके दिखा गये कि जीव में अहंकार करने योग्य कुछ नहीं है।"

एक दिन अपराह्न में मैंने ठाकुर को शयन से जगाया – माँ चारपाई पर बैठी थीं। योगीन-माँ ने मुझसे पूछा – "क्यों जी, यहाँ कैसा लग रहा है?" मैंने कहा – "यहाँ का काम एक ही ढर्रे का है, इसलिये जब माँ यहाँ नहीं रहती हैं, तो बहुधा बड़ा शुष्क लगता है। यहाँ शास्त्र आदि पढ़ाने के लिये भी कोई नहीं है।" माँ बोलीं – "ठाकुर की सेवा नीरस क्यों लगेगी? मन में विचार करके देखना चाहिये कि नीरस क्यों लग रहा है? मनुष्य का मन एक ही अवस्था में रहने का आदी हो जाता है, तब दूसरी अवस्था में जाने पर उसे अच्छा नहीं लगता; देह-मन सब कुछ पहले के समान ही चाहते हैं। उस समय ठाकुर से प्रार्थना करनी पड़ती है, तब देखोगे कि वे कैसे मन को सरस बना देते हैं। साधना की प्रारम्भिक अवस्था में दिन-रात ज्ञानचर्चा ठीक नहीं, मन शुष्क हो जाता है। ठाकुर की लीला-चर्चा करने पर देखोगे कि मन पुन: कैसा सरस हो उठा है। शरत् ने कैसा सुन्दर 'लीलाप्रसंग' लिखा है, मास्टर का लिखा 'वचनामृत' सुनकर प्राण शीतल हो जाते हैं। अक्षय मास्टर की 'पोथी' भी रोज थोड़ा-थोड़ा पढ़ो। समय मिलने पर मैं भी रोज थोड़ा-थोड़ा सुनूँगी।"

एक दिन उद्‌बोधन में पूजा करते समय जब मैं बाणेश्वर शिव को नहला रहा था, मेरे हाथ से फिसलकर लुढ़कते चले गये। आतंकित होकर मैंने दौड़कर उन्हें उठाया और यथास्थान गौरीपट्ट पर रख दिया। अगले दिन सुबह रामकृष्ण-पुर से नीरद महाराज (स्वामी अम्बिकानन्द) की माँ[६] आकर बोलीं – "बेटा, कल तुमने महादेव को नहलाते समय हाथ से नीचे गिरा दिया था?" मैं लज्जित होकर बोला, 'माँ, आपने कैसे जाना?" वे बोलीं – "कल मैंने स्वप्न में देखा, एक पाँच वर्ष का खूब गोरा बालक, सिर पर छोटी-छोटी जटाएँ, दिगम्बर, नाचते-नाचते आकर कह रहा है – मुझे गिरा दिया।" माँ सामने पैर फैलाकर किसी से बातें कर रही थीं, पर उन्होंने सब कुछ सुना। उस समय मैं भय से – **गुरु कृपाहि केवलम्** – का जप रहा था। छाती इतनी जोर से धड़क रही थी, कि स्वयं ही सुन पा रहा था! माँ नीरद महाराज के माँ की ओर देखकर बोलीं – "छोटे बच्चे खेलते समय ऐसे कितनी ही बार गिर पड़ते हैं।" और हँसकर बाणेश्वर शिव की ओर देखकर बोलीं – "बेटा, तुम अष्टमूर्ति में विश्व को आच्छादित किये रहते हो; और इतना-सा लड़का तुम्हें कैसे पकड़े रख सकता है?" मन-ही-मन मैं समझ गया – **शिवः रुष्टे गुरुस्त्राता गुरुः रुष्टे न कश्चन**। योगेन माँ बोली, "अब से सावधान रहना।" मैंने तीनों को प्रणाम किया। नीरद महाराज की माँ मुझसे बोलीं – (मेरे अपराध के लिये) – उनका ब्राह्मण वृन्दावन में चामर का व्यजन और चण्डी-पाठ करेगा।

अन्य एक दिन (किसी दिन) माँ का गुल (मंजन) खत्म हो गया था। नीरद महाराज की माँ सुबह-सुबह गुल लेकर हाजिर हो गयीं। बोलीं – "कल मैंने सपने में देखा माँ गुल माँग रही हैं।" घर में बताने पर सभी हँसने लगे – "इतनी सारी चीजों के रहते माँ गुल माँग रही थीं!" माँ बोलीं – "हाँ, जी मेरा गुल खत्म हो गया है।"

❖ **(क्रमशः)** ❖

६. श्रीरामकृष्ण के गृही भक्त नवगोपाल घोष की पत्नी निस्तारिणी देवी

दैवी सम्पदाएँ (१४) शान्ति

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

गीतोक्त दैवी सम्पत्तियों में शान्ति का चौदहवाँ स्थान है। शान्ति-प्राप्ति जीवन का चिर लक्ष्य तथा परम पुरुषार्थ है। हर मनुष्य शान्ति चाहता है। शान्ति है क्या? गीता की टीकाओं में इसके अनेक पर्याय उल्लिखित हैं, जैसे – मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण और संसारोपरति, उपशम आदि। आचार्य शंकर ने इसे **सर्वसंसार दु:खोपरमलक्षणा निर्वाणाख्या** कहा है। यह संसार-चक्र से शाश्वत विराम और **पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्** के निरन्तर प्रवर्तमान चक्र से विमुक्ति है। यह आत्मा में चित्त की उपरति है – **आत्मनि चित्तोपरतिः शान्तिः**। विषयों में आसक्त होने पर चित्त चंचल और अशान्त होता है। उसकी वृत्ति जब आत्ममुखी होती है, जब वह विषयों से विरत होकर आत्मधाम में विश्राम करता है, एकाग्र होकर आनन्द की अनुभूति करता है, आत्मतृप्ति तथा आत्म-आप्यायिति की इसी अवस्था का नाम शान्ति है।

शान्ति वह सरोवर है, जिसमें कामनाओं की चंचल तरंगें नहीं होतीं, विषय प्रभंजन से उत्तालित कामना-तरंगें तटों से टकराकर खण्ड-खण्ड नहीं होती। यह अद्वैत की स्थिति है; एकत्व की अनुभूति है। आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों के सन्तुलन, सामंजस्य तथा अनुकूलन की निरपेक्ष अवस्था है। इसमें अपेक्षा, द्वन्द्व और द्वन्द्वात्मक प्रक्रियाओं को विश्रान्ति मिलती है। अन्त:करण में राग-द्वेष-जनित हलचल नहीं होती। मन की चंचलता पर विराम लग जाता है। उसकी वृत्तियाँ केन्द्राभिसारिणी हो जाती हैं। जब हम प्राकृतिक सौन्दर्य से सम्पन्न या किसी धार्मिक स्थल पर जाते हैं, तब हमें बड़ी शान्ति की अनुभूति होती है। यह शान्ति किसी स्थान-विशेष में नहीं होती। ऐसे स्थानों पर, कुछ क्षणों तक मन एकाग्र हो जाता है, आनन्द का उत्स प्रवाहित होता है और इसी की अनुभूति हमें होती है, जिसे शान्ति कहते हैं। यह तो वह कस्तूरी है, जो हमारी नाभि में ही विद्यमान है, जिसे हम चारों ओर खोजते हैं और खोजते-खोजते एकान्त में दम तोड़ देते हैं। यह दिक्कालातीत है। स्थान या काल-विशेष से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका स्रोत भीतर है। यह वही से प्रवाहित होती है।

मनुष्य शान्ति क्यों चाहता है? क्योंकि वह दु:खी और त्रिताप से त्रस्त है। दैहिक, दैविक तथा भौतिक तापों से परितप्त है। यह शरीर-मन त्रितापों से सर्वदा तवे के समान तप रहा है। यह तभी शीतल हो सकता है, जब परमात्मा की कृपा से इसे शान्ति मिलेगी।

तुलसी यह तनु तवा है, तपत सदा त्रैताप।
सान्ति होइ जब सान्तिपद, पावें राम प्रताप।।
(वैराग्य सन्दीपनी, ६)

सन्त तुलसी कहते हैं कि सातों द्वीपों, नवों खण्डों और तीनों लोकों में शान्ति के समान कोई अन्य सुख नहीं है –

सात दीप नव खण्ड लौं, तीन लोक जग माहिं। तुलसी सान्ति समान सुख, अपर दूसरो नाहिं।। (वही, ५०)

शान्ति का जल यद्यपि शीतल, सम, सुखद और जीवनाधार प्राण है, फिर भी उसमें अग्नि के समान तेज है। जिसमें काम-क्रोधादि भावों का ईंधन जल जाता है –

यद्यपि सीतल, सम, सुखद, जग में जीवन प्रान। तदपि सान्ति जल जनि मनौ, पावक तेज प्रमान।। (वही, ५६)

– हे भगवन्! मैं इस संसार-चक्र में सदा घूमता रहा, पर तापत्रय से अभिभूत मुझे कहीं भी शान्ति नहीं मिली। मैंने सुखबुद्धि से राज्य, पृथ्वी, धन, मित्र, पुत्र, पत्नी भृत्यजन तथा शब्दादि विषयों को अक्षय मानकर एकत्रित किया, किन्तु अन्त में ये ही सन्ताप के कारण हो गये –

माया संसार चक्रेऽस्मिन् भ्रमता भगवन सदा।
तापत्रयाभिभूतेन न प्राप्ता निर्वृत्तिःक्वचित्।।
राज्यमुर्वी बलं कोशो मित्रपक्षस्तथात्मजाः।
भार्या भृत्यजनो ये च शब्दाद्या विषयाः प्रभो।।
सुखबुद्ध्या मया सर्वं गृहीतमिदमव्ययम्।
परिणाम तदेवेश तापात्मकमभून्मम।।
(विष्णु पुराण, ५/२३३८/४०-४१)

किसी भी सांसारिक वस्तु से शान्ति मिलना सम्भव नहीं है। प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु अपनी ओर खींचती है – कामिनी अपनी तरफ और कंचन अपनी तरफ। प्रकृति की विभिन्न शक्तियों का यही परस्पर विरोध व्यक्ति को भ्रमित कर मृग-

मरीचिका में फँसाता है, जिससे व्यक्ति दुखी होकर शान्ति की लालसा में अशान्त बना रहता है। शान्ति के बाधक तत्त्व हैं – मोह, संशय, परिग्रह, अंहकार, आसक्ति और प्रमाद आदि। जिन्हें पातंजल योग-दर्शन में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश के नाम से निर्दिष्ट किया है। (२/३) मोह सारे मानसिक रोगों का मूल है – **मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला**। यह बुद्धि पर जड़ता का आवरण है। अज्ञान का रूप है। जिसके कारण व्यक्ति की स्वतंत्र चिन्तन-शक्ति उपहत होती है और वह सत्य को समझने में असमर्थ रहता है। अर्जुन मोह से ग्रसित था, इसलिये वह भयभीत था, दुखी था। जब उसके मोह का अन्त हुआ, तब उसके दु:ख का भी विनाश हो गया – **यत्त्वयोक्तंवचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम**। (११/१) संशय निश्चय का अभाव है। इससे शान्ति भंग होती है। संशय का आधार मानसिक ग्रन्थियाँ हैं। जब इन ग्रन्थियों की परतें खुल जाती हैं, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं, तभी मरणशील मनुष्य अमर बनता है –

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथमर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्॥
(कठोपनिषद्, ६/१५)

संशयशील मनुष्य का पतन होता है। उसे न तो यह लोक मिलता है और न परलोक। उसे सुख भी नहीं मिलता – **संशयात्मा विनश्यति** (४.३९), **नायं लोकोऽस्ति न परो, न सुखं संशयात्मनः** (४.४०)। संशय की उत्पत्ति भी अज्ञान से है, जिसे ज्ञान की तलवार से ही काटकर शान्ति-योग की साधना की जा सकती है –

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशंय योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ ४/४२

परिग्रह विग्रह का जनक है। जहाँ संग्रह है, वहाँ शान्ति कहाँ? अहंकार, आसक्ति और प्रमाद आदि आसुरी गुण शान्ति के बाधक हैं। इनके रहने पर शान्ति नहीं मिलती। सन्त तुलसीदास जी ने कहा कि अहंकार की अग्नि में सारा संसार जल रहा है। सन्तजन ही शान्ति का आधार लेने के कारण उससे बच पाते हैं। जो सन्तजन शान्ति-रूप जल का स्पर्श करके शान्त हो गये हैं; चाहे कोई करोड़ों उपाय करे, तो भी वे अहंकार की अग्नि में नहीं जलते।

अहंकार की अगिनि में, दहत सकल संसार।
तुलसी बांचै सन्तजन, केवल सान्ति अधार॥
महा सान्ति जल परसिकै सान्त भये जन जोइ।
अहं अगिनि ते नहिं दहैं, कोटि करै जो कोई॥
(वैराग्य सन्दीपनी, ५३–५४)

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि जिस व्यक्ति का हृदय सद्भावनाओं से भावित नहीं है; आस्था, श्रद्धा, विश्वास तथा आस्तिकता से परिपूर्ण नहीं है, उसे शान्ति की अनुभूति नहीं होती। वह अशान्त रहता है। और जो अशान्त है, उसे सुख भी कहाँ है? **नचाभावयतः शान्तिः अशान्तस्य कुतः सुखम्।** (२.६६) शान्ति का अधिकारी कौन है? गीता के अनुसार शान्ति के अधिकारी में निम्नांकित योग्ताएँ होनी चाहिये –

(अ) यः पुमान् कामान् विहाय चरति –जो व्यक्ति एषणाओं का परित्याग कर विहित कर्मों का आचरण करता है।

(ब) यः पुमान् निःस्पृहः चरति – जो व्यक्ति बिना किसी स्पृहा के कर्मरत है।

(स) यः पुमान् निर्ममः चरति – जो निर्मम है अर्थात् जो आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है।

(द) यः पुमान निरहंकारः चरति – और जिस व्यक्ति ने अहंकार का विसर्जन करके दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया है। जो एकमात्र परमात्मा को ही कर्ता और भोक्ता मानता है, वह शान्ति को प्राप्त करता है। (२.७१)

गीता में प्रदर्शित शान्ति-प्राप्ति के कुछ उपाय ये हैं –

(१) अकामः शान्तिमाप्नोति – जो अकाम है, जिसने कामनाओं का सर्वथा त्याग कर दिया है। जिस प्रकार ऊपर तक भरे हुये अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में जल प्रवेश करता है, उसी प्रकार जिसमें समस्त कामनाएँ प्रविष्ट होकर एकाकार हो गई हैं, उसी को शान्ति मिलती है, न कि उसे जो कामनाओं को चाहता है –

आपूर्यमाणम् अचलप्रतिष्ठम्
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शन्तिम् आप्नोति न कामकामी॥ २/७०

जो कामनाओं को आदर देता है, उन्हें चाहता है, वह उन स्थानों में जन्म लेता है – **गतागतं कामकामा लभन्ते** (९.२१) परन्तु जो पर्याप्त काम तथा कृतात्मा है, उसकी सम्पूर्ण कामनाएँ इसी जन्म में विलीन हो जाती हैं –

कामान् यः कामयते मन्यमानः
स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु
इहैव सर्वे प्रविलीयन्ते कामाः॥

जब हृदय में रहनेवाली कामनाएँ छूट जाती हैं, तब मर्त्य जीव अमर बनकर ब्रह्म की अनुभूति करता है –

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

जैसे घी डालने से अग्नि शान्त होने की जगह और धधक उठती है, वैसे ही कामनाओं की पूर्ति से उनकी ज्वाला और भी धधक उठती है –

न जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(२) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर – ये छह चित्त के विकार हैं। जिनसे चित्त अशान्त रहता है। इनका जन्म आसक्ति से होता है। 'मैं, मेरा, मेरे लिये' – की भावनाएँ ही आसक्ति के रूप हैं। इस पर नियंत्रण पा लेने से शान्ति की प्राप्ति सरलता से हो सकती है।

(३) **त्यागात् शान्तिः अनन्तरम्** – त्याग से शान्ति मिलती है। (१२.१२) त्याग का अर्थ है आन्तरिक परिग्रह रूप – राग-द्वेष आदि भावों का और बाह्य परिग्रह रूप – सांसारिक पदार्थों का संग्रह न करना। समाज में विषमता का आधार परिग्रह है। यदि अपरिग्रह की वृत्ति जीवन का ध्येय बन जाय तो सच्चा साम्यवाद स्थापित होगा। फिर वर्ग-संघर्ष का नहीं, वर्ग-सामंजस्य का वातावरण विनिर्मित हो सकेगा। जिसमें सच्ची सामाजिक शान्ति, अहिंसा और सह-अस्तित्व की प्रतिष्ठा सम्भव होगी।

गीता में कर्म और कर्मफल की आसक्तियों के त्याग पर बल दिया है। आसक्ति को त्यागकर कर्म करनेवाला योगी है और ऐसे ही योगी को नैष्ठिकी शान्ति मिलती है। (५.२) जब कर्ता फल को त्यागकर कर्म करता है, तब वह कर्मों के बन्धन में नहीं बँधता। सिद्धि और असिद्धि से हर्ष-विषाद का न होना ही समत्व योग है। इस योग में स्थित रहते हुए, आसक्ति का त्यागकर कर्म करनेवाले को अशान्ति कब है? बुद्धिमान् मनीषी कर्म से उत्पन्न फल को छोड़कर जन्म-बन्धनों से निर्मुक्त अनामय पद को प्राप्त करते हैं। (२.५१) शान्ति में प्रसन्नता की अनुभूति होती है, क्योंकि इस अवस्था में समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है – **प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते**। प्रसन्नता के लिये दो बातें आवश्यक हैं – (१) रागद्वेष से मुक्ति और (२) आत्मवश्यता। व्यक्ति राग-द्वेष आदि भावों से मुक्त हो और आत्माधीन हो अर्थात् उसके ऊपर इन्द्रियों का अनुशासन न हो। शरीररूपी रथ को इन्द्रियों -रूपी घोड़े मनचाही दिशा में स्वेच्छापूर्वक खींचकर न ले जाये। प्रसन्नता और शान्ति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

(४) ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम् अचिरेण अधिगच्छति – जीवात्मा ज्ञान को प्राप्त करके अतिशीघ्र परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है। (४.३९) ज्ञान क्या है? सत्य, सुखद और पवित्र वस्तु को असत्य, दुःख तथा अपवित्र न समझना ज्ञान है। इसके विपरीत अज्ञान है। मान तथा दम्भ न करना, अहिंसा, क्षमा, सरलता, वृद्धजनों की अर्चना, उपासना, पवित्रता, स्थैर्य, आत्म-निग्रह, इन्द्रियों के विषयों से वैराग्य, अहंकार का अभाव, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि आदि दोषों की विवेचना, अनासक्ति, निर्ममत्व, सुख-दुःख में चित्त की एक-रूपता, भगवद्भक्ति, एकान्त-सेवन, भीड़ और भीड़ की मानसिकता से दूर रहना, अध्यात्म तथा तत्त्वज्ञान हैं; जिनसे अमृतत्व की प्राप्ति होती है, (१३.११) शान्ति मिलती है।

अज्ञान सभी दुःखों का मूल है। राग-द्वेषादि का निमित्त कारण है। अज्ञान घोर अन्धकार और ज्ञान प्रकाश का स्वरूप है। अज्ञान मृत्यु है और ज्ञान अमरता। ज्ञान के समान पवित्र इस संसार में कुछ भी नहीं है। ज्ञान-परिपूत व्यक्ति ही भगवद्भक्ति प्राप्त करता है। द्वैत-बुद्धि का विनाश ज्ञान से ही होता है। बिना अद्वैत-बुद्धि के शान्ति सम्भव नहीं है। ज्ञान-यज्ञ समस्त यज्ञों से श्रेष्ठ है। ज्ञान की प्राप्ति से ही मोह का अन्त होता है। मोह के वशीभूत होकर मनुष्य अनेक प्रकार के पाप करता है – **करहिं मोह बस नर अघ नाना**। वह दूसरों से द्रोह भी तो मोह के कारण ही करता है – **करहिं मोह बस द्रोह परावा**। मोह की दशा में शान्ति नहीं मिल सकती और मोह ज्ञान से ही नष्ट होता है। अतः शान्ति प्राप्ति का मुख्य साधन है – ज्ञानोपासना, ज्ञानयोग।

(५) ज्ञात्वा मां शान्तिम् ऋच्छति – भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि मैं सभी प्राणियों का मित्र हूँ। जीव मुझे जानकर शान्ति प्राप्त करता है। (५.२९) मैं सबमें समान रूप से रहता हूँ। जो मुझे भजते हैं, वे मुझमें और मैं उनमें निवास करता हूँ। दुराचारी भी मेरे भजन से धर्मात्मा साधु बनकर चिर शान्ति पाता है। (९/३०-३१) श्वेताश्वतरोपनिषद् में है –

यो योनिं योनिम्-अधितिष्ठति एको,
यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं, निचाय्य
इमां शान्तिम्-अत्यन्तमेति ।। ४/११

– जो परमात्मा अकेला ही प्रत्येक योनि का अधिष्ठाता है, जिसमें प्रलय काल में जगत् विलीन हो जाता है और जिससे सृष्टि काल में पुनः विविध रूपों में प्रकट हो जाता है; व्यक्ति उस सर्व-नियन्ता वरदायक वन्दनीय परमात्मा को जानकर अत्यन्त शान्ति को प्राप्त करता है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्त्रष्टारम् अनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा
शिवं शान्तिम्-अत्यन्तमेति ।। ४/१४

– जो हृदय-गह्वर के भीतर परम सूक्ष्म रूप से विराजमान है और जो विश्व का सृष्टा, अनेक-रूपात्मक विश्व का एकमात्र आच्छादक शिव है, उसे जानकर शान्ति मिलती है।

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनां
एकं बीजं बहुधा यः करोति।
तम् आत्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः
तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।। ६/१२

– जो परमात्मा अद्वैत और स्वतंत्र है, एक बीज को बहुत बनाता है, अपनी अन्तरात्मा में स्थित उस परमात्मा को जो धीर पुरुष अपने भीतर देखते हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख मिलता है, दूसरों को नहीं।

मुण्डकोपनिषद् में कहा कि उस परावर परमात्मा की अनुभूति होने पर हृदय की ग्रन्थियों का भेदन और समस्त संशयों का छेदन हो जाता है। उसके कर्मों का भी क्षय होता है, जिससे वह बन्धनों में नहीं बँधता –

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।

सन्त तुलसीदास जी ने कहा है –

तुलसी मिटै न मोह तम, किये कोटि गुनग्राम ।
हृदय कमल फूलै नहीं, बिनु रविकुल-रवि राम ।।

और यह भी कहा है –

जब लगि कुशल न जीव कहँ,
सपनेहुँ मन विश्राम ।
जब लगि भजन न रामपद,
सोक धाम तजि काम ।।

परमात्मा शान्तिपद, शान्ताकार और शान्ति-स्वरूप है। जीवात्मा उसी का अंश अथवा सर्वांश रूप है। अत: दोनों की एकरूपता होने से जीव भी मूलत: शान्ति-स्वभावी है। जैसे जल की मूल प्रकृति शीतल है, आप उसे कितना भी गर्म कीजिये, पर थोड़ी देर रख दीजिये – वह ठण्डा हो जायेगा, वैसे ही प्राणीमात्र का मूल स्वभाव शान्त रहना है।

अशान्त यह आसुरी वृत्तियों के कुसंग से होता है, किन्तु जैसे ही उसे कुसंग से मुक्ति मिलती है, वह शान्त हो जाता है। शान्ति स्व-भाव है अर्थात् अपना भाव, अशान्ति पर-भाव अर्थात् पराया भाव है। परभाव अधिक समय तक नहीं टिकता। उसकी उत्पत्ति शान्ति से होती है और अन्त में वह उसी में विलीन होता है। बीच में माया के कारण वह शान्ति से विलग अवश्य होता है, मृग की भाँति शान्ति की तृषा में जीवन भर दौड़ता है, किन्तु उसे तृप्ति तभी मिलती है, जब वह शान्ति-निधि परमात्मा का तादात्म्य या सामीप्य पा लेता है। जब उसे परमात्मा की अपरोक्षानुभूति होने लगती है; प्रभु का दर्शन होने लगता है। जो परमात्मा अनित्यों में नित्य, अचेतनों में चेतन और अकेला ही अनेकों की अनेक कामनाओं की पूर्ति करता है; जो धीर व्यक्ति उसे अपने अन्त:करण में देखते हैं, उन्हीं को शान्ति मिलती है, दूसरों को नहीं –

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्
एको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं योऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।। (कठ. २/२/३)

ऊपर निष्कामता, अपरिग्रह, अनासक्त कर्म, ज्ञान तथा भक्ति योगों के शान्ति-मार्गों का उल्लेख हुआ। शान्ति चाहे भौतिक, मानसिक, दैविक, वैयक्तिक हो अथवा सामाजिक, उसकी प्राप्ति इन्हीं मार्गों से सम्भव है। शान्ति एक जीवन-मूल्य है। वह सामाजिक तथा वैयक्तिक धरातलों पर सदैव आकांक्षित है। युद्ध का उन्माद चाहे कितना ही प्रबल हो, पर वह जीवन का आदर्श कदापि नहीं है। यही कारण है कि बड़े-से-बड़े युद्ध की परिणति शान्तिमय समझौते में होती है।

हिंसा दो हिंसक शक्तियों में सन्तुलन तो बिठाती है, किन्तु हृदयों को जीतकर स्थायी शान्ति की स्थापना नहीं कर पाती। विनाश की नींव पर बना शान्ति का प्रासाद टिकाऊ नहीं होता। अहिंसा और शान्ति दोनों सापेक्ष मूल्य हैं। सत्य के दो ध्रुव हैं। पुरातन ऋषियों ने इनकी अनुभूति की थी। उनके समक्ष जीवन के महत्तम मूल्य थे। दूरदर्शिनी प्रज्ञा थी। इसलिये उन्होंने शाश्वत शान्ति के साधना-पक्षों का अन्वेषण किया था। परम शान्ति तक पहुँचने की चेष्टा की थी, ताकि पाप-सम्भव विविध तापों का उत्पात मिट जाय –

अमल अदाग सांतिपद सारा,
सकल कलेश न करत प्रहारा ।
तुलसी उर धारै जो कोई,
रहै अनन्द सिन्धु मँह सोई ।।
विविध पाव संभव जो तापा,
मिटहिं दोष दुःख दुसह कलापा ।
परम सान्ति सुख रहै समाई,
तहँ उत्पात न भेदै आई ।
(वैराग्य सन्दीपनी)

इसी परम शान्ति को गीता में निर्वाण-परमा, मत्संस्था, परा, नैष्ठिकी और शाश्वत विशेषणों से मण्डित किया गया है। जिस हृदय में यह शान्ति आ गई, वहाँ श्रीराम की दुहाई फिर गई। रामराज स्थापित हो गया। शान्ति पूर्णत: उल्लसित हो गई –

तुलसी जबहिं सान्ति गृह आई ।
तब उरहीं उर फिरी दोहाई ।।

गीता की शान्ति मृत्यु की शान्ति नहीं है। वह तो जीवन की शान्ति है, क्योंकि गीता जीवन का सन्देश है, अमरता का गीत है। अखिल ब्रह्माण्ड में कण-कण और जन-जन में शान्ति रहे – यही हमारी कामना तथा सम्पत्ति है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

धान के खेत जला दिये

रॉबर्ट ग्रभ

जापान में एक वृद्ध अपने छोटे पौत्र के साथ एक पर्वत पर रहता था। उसके छोटे-से घर के आसपास में फैली भूमि समतल और बड़ी उपजाऊ थी। पर्वत के ऊपर की सारी भूमि में भी वह धान की बुवाई करके अच्छी फसल पा लेता था।

उस पर्वत के नीचे बसे गाँव में काफी लोग रहते थे। गाँव के लोग पर्वत पर आकर इस वृद्ध के खेत में काम किया करते थे। हर रोज सुबह-शाम जब वह वृद्ध अपने पोते के साथ उस गाँव की ओर नजर डालता था, तो हमेशा लोग उसे अपने कार्यों में व्यस्त दिखायी देते। उस गाँव के पास ही समुद्र था। वह उसे भी देखता रहता था।

वह गाँव समुद्र के इतना समीप था कि वहाँ धान उगाने के लिए जगह ही नहीं थी। पर्वत और सागर के बीच की जगह में ही गाँव बसा हुआ था। इसलिए धान की खेती केवल पर्वत पर ही होती थी। उसके छोटे-से पोते को धान के खेत बड़े प्यारे लगते थे। धान के लहलहाते पौधों को देखकर वह फूला नहीं समाता था। वह जानता था कि अपने खेतों के धान खाने में कितने स्वादिष्ट लगते हैं। वह अपने दादा के साथ खेत की देखभाल भी हाथ बँटाता था।

एक दिन वे वृद्ध अपने घर के सामने खड़े होकर नीचे के गाँव की ओर देख रहे थे और फिर उनकी दृष्टि सहसा सागर की ओर गयी। उन्होंने देखा – दूर, क्षितिज पर, जहाँ आसमान नीचे झुककर सागर से मिल रहा है, वहाँ एक अजीबोगरीब दृश्य दिखाई दे रहा था। उनको लगा कि एक बहुत बड़ा बादल सागर से मिल रहा है और सागर मानो ऊँचे उठकर आकाश को छूने की कोशिश कर रहा है। इस दृश्य को वृद्ध ने फिर एक बार ध्यान से देखा। बस, वह एकाग्रता के साथ उस दिशा में देखता ही रहा और सहसा कुछ सोच कर वह अपने मकान की ओर दौड़ा।

वह जोर की आवाज में अपने पोते को पुकारते हुए चिल्लाया – "बेटा, तुरन्त एक जलती हुई लकड़ी ले आ। जरा जल्दी करा।" बच्चे की समझ में कुछ भी नहीं आया कि दादाजी क्यों मुझे जल्दी से जलती हुई लकड़ी लेकर आने के लिए कह रहे हैं। लेकिन वह हमेशा अपने दादाजी की आज्ञा का पालन करता था, इसलिए उसने तुरन्त एक जलती लकड़ी उठायी और बाहर आ गया। दादाजी ने भी एक बड़ी-सी जलती हुई लकड़ी उठा ली और धान के खेत की ओर दौड़ पड़े। बालक भी एक दूसरी जलती लकड़ी लिये उनके पीछे-पीछे दौड़ रहा था। उसके देखते-ही-देखते दादाजी ने जलती हुई लकड़ी सूखकर पके हुए धान के खेतों में फेंक दी। यह देखकर उसके दिल को बड़ा सदमा पहुँचा। उसने रोते हुए वृद्ध से पूछा – "दादाजी, आप यह क्या कर रहे हैं? ये हरे-भरे धान के खेत क्यों जला रहे हैं?" वृद्ध ने तत्काल आदेश दिया – "जल्दी कर बेटा! अपने हाथ की आग को भी तू तत्काल खेत में फेंक दे।"

बच्चे को पक्का विश्वास हो गया कि उसके दादा पूरे पागल हो गये हैं। वह कभी अपने दादा की बात टालता नहीं था। आखिरकार उसने रोते-रोते अपनी जलती हुई लकड़ी को भी खेत में फेंक दिया। देखते-ही-देखते धान के खेत जलने लगे और आग फैल गयी। नीचे गाँव के लोगों ने जब देखा कि उनके सुन्दर धान के खेत जल रहे हैं, तो सारा गाँव पर्वत की ओर दौड़ा। हर व्यक्ति को लग रहा था कि खेतों को बचाने के लिए कुछ किया जाय। पर जब वे लोग ऊपर पहुँचे, तब तक बहुत देर हो चुकी थी। जलते हुए खेत को बचा पाना अब सम्भव नहीं रहा गया था। उन लोगों ने चिल्लाकर पूछा – "यह किसने किया? कैसे हुआ?"

"मैंने ही इन खेतों को जला डाला है" – वृद्ध ने दुःख-पूर्वक कहा। बच्चे ने भी रोते-रोते कहा – "हाँ, दादाजी ने ही अपने खेतों में आग लगा दी।"

लोगों ने नाराज होकर वृद्ध को घेर लिया और पूछने लगे – "क्यों? आपने ऐसा क्यों किया?"

दादाजी ने बिना कुछ कहे केवल उंगली से सागर की ओर इशारा किया। फिर धीरे-से कहा – "उधर देखो!" लोगों ने सागर की ओर देखा – वहाँ हमेशा शान्त रहनेवाले नीले समुद्र के स्थान पर एक भयावह पानी की मानो दीवार-सी खड़ी थी और वह असमान को छूने की कोशिश कर रही है। वह दीवार क्रमशः गाँव की ओर बढ़ रही है। दृश्य इतना भयानक था कि सबकी बोलती बन्द हो गयी। वह महाकाय पानी की दीवार देखते-देखते किनारे पर पहुँची और पूरे गाँव को अपने में समाहित कर लिया। लहरें आकर पर्वत से भी टकरा रही थी। पूरा पर्वत हिल रहा था। चारों ओर पानी ही पानी दीख रहा था। जहाँ पहले गाँव था, वहाँ अब जल ही दीख रहा था, पर लोगों की जान बच चुकी थी।

अब लोगों को समझ में आया कि दादाजी ने क्यों पके धान के अपने खेत जला दिये! दादाजी ने अपनी प्रत्युत्पन्न मति का उपयोग करके पूरे गाँव के लोगों की जान बचा ली थी। **(मासिक 'मैत्री', के अप्रैल २००५ अंक से साभार)**

अमेरिकी विश्वविद्यालय में भी हिन्दू-संस्कृति का अध्यापन

अमेरिकी छात्रों में भी हिन्दू-संस्कृति के प्रति रुचि देखते हुए अमेरिका के न्यूजर्सी प्रान्त की रटगर्स विश्वविद्यालय विश्व के सबसे प्राचीन धर्म के अध्ययन हेतु एक व्यापक पाठ्यक्रम आरम्भ करने जा रही है।

इस ग्रीष्म काल से उक्त विश्व-विद्यालय स्नातक स्तर पर छह पाठ्यक्रमों का अध्यापन शुरू करेगा – शास्त्र परम्परा, हिन्दू संस्कार, महोत्सव, प्रतीक, हिन्दू-दर्शन और हिन्दुत्व तथा आधुनिकता। इसके अतिरिक्त 'नॉन क्रेडिट कोर्स' में योग तथा ध्यान और हिन्दू शास्त्रीय और लोक-नृत्य भी शामिल किये जायेंगे।

रटगर्स विश्वविद्यालय में हिन्दू अध्ययन पर ग्रीष्म कार्यक्रम के प्रभारी तथा प्राध्यापक डॉ. माइकल शेफर ने कहा कि अमेरिका में ऐसे कम संस्थान हैं, जो इतने व्यापक आधारवाले पाठ्यक्रम चलाते हैं। वैसे कुछ विश्वविद्यालय हिन्दुत्व पर विद्वत्तापूर्ण पाठ्यक्रम संचालित करते हैं और कुछ संस्कृत में पाठ्यक्रम चलाते हैं, लेकिन रटगर्स विश्वविद्यालय का 'समर हिन्दू स्टडीज प्रोग्राम' इस मायने में विशिष्ट है कि यह दस सप्ताह की अवधि में ही व्यापक विषयों को समाहित करता है। आशा है कि रटगर्स में पंजीकृत भारतीय मूल के लगभग पाँच हजार छात्र इस पाठ्यक्रम में अपनी गहरी रुचि दिखायेंगे। हिन्दू अध्ययन के इस कार्यक्रम से भारतीय अमेरिकी समुदाय से बाहर के भी छात्रों और विद्वानों के आकृष्ट होने की सम्भावना है, क्योंकि न्यूजर्सी प्रान्त में विभिन्न धर्मों में लोगों की रुचि बढ़ रही है।

रटगर्स समर हिन्दू स्टडीज प्रोग्राम की सलाहकार समिति के अध्यक्ष और इसके लिये पहल करनेवालों में प्रमुख हिमांशु पी. शुक्ला ने कहा कि स्नातकों की संख्या से ही कार्यक्रम की लोकप्रियता स्पष्ट हो जाती है, जिन्हें रटगर्स में पारम्परिक स्कूल वर्ष के दौरान हिन्दुत्व के पाठ्यक्रम में समाहित नहीं किया जा सका।

रटगर्स विश्वविद्यालय के धर्म-विभाग में हिन्दुत्व के प्राध्यापक एडविन ब्रायंट का कहना है कि हिन्दू धर्म के अध्ययन में ग्रीष्मकालीन कार्यक्रम एक जबर्दस्त विचार है। हिन्दुत्व परम्पराओं का एक ऐसी जटिल संरचना है, जो विगत पाँच हजार सालों से विकसित हो रही है। दुनिया आज बहुत ज्यादा एक-दूसरे से जुड़ी है और मैं मानता हूँ कि हमारे लिये सभी प्रमुख धर्म-मतों को समझना बड़ा महत्त्वपूर्ण है। भारत की आध्यात्मिक परम्परा काफी समृद्ध है। लाखों लोग अध्यात्म की खोज में देश भर में भ्रमण करते रहते हैं।

रटगर्स के धर्म विभाग में हिन्दुत्व पढ़ाने वाले ब्रायंट ने अध्यात्म की तलाश में अपनी युवावस्था के कई वर्ष भारत में बिताये थे। कुछ साल पूर्व रटगर्स ने यहूदी धर्म पर एक ग्रीष्म-कालीन अध्ययन कार्यक्रम चलाया था, जिसको काफी लोक-प्रियता मिली थी और विश्वविद्यालय हिन्दुत्व पर भी वैसा ही कार्यक्रम शुरू करने को प्रेरित हुआ।
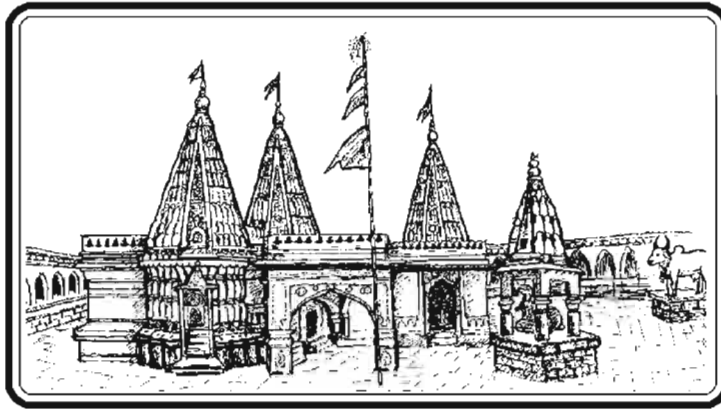
रटगर्स के प्रशासक और शिक्षक यह भी मानते हैं कि उनका विश्व-विद्यालय सभी धर्म-मतों का स्वाभाविक केन्द्र है। न्यूजर्सी के ४० प्रतिशत लोग या तो स्वयं किसी अन्य देश में पैदा हुए हैं या उनके माता-पिता में से कोई एक अन्य देश में जन्मा है। इसलिये रटगर्स सही मायने में वैश्विक शिक्षा मुहैया कराने के महत्त्व के प्रति काफी गम्भीर है।

रटगर्स में इस ग्रीष्म कार्यक्रम को चुनने के पीछे मूलभूत कारण यह है कि यह एक सार्वजनिक विश्वविद्यालय है और इसके ग्रीष्म अध्ययन न्यूजर्सी के पूरे समुदाय के लिये खुले रहते हैं। इसके अलावा रटगर्स मिडलसेक्स काउंटी में है, जहाँ बड़ी संख्या में भारतीय मूल के आबादी वाले घर हैं। इस शैक्षणिक कार्यक्रम के लिये देश भर से हिन्दुत्व के विद्वानों और शिक्षकों को पाँच सप्ताह के कार्यक्रम चलाने के लिये सूचीबद्ध किया गया, जिसे ९ जुलाई से १५ अगस्त तक चलाया गया। **(विभिन्न समाचार-पत्रों से संकलित)**